विजय यात्रा

मुनिश्री नथमलजी

प्रकाशक :

सरदारशहर (राजस्थान)

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य संघ
सरदारशहर (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति २५००
मूल्य १।।)

मुद्रक :
धनालाल वरड़िया
रेफिल आर्ट प्रेस,
(आदर्श साहित्य संघ द्वारा संचालित)
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता-७

प्रकाशकीय

सत्य जीवन का चरम अभिप्रेत है। अन्ततः वही सुन्दर है। सत्य और सुन्दर से जीवन को संजोना श्रेयस्—शिव की ओर अग्रसर होना है। यह वह आत्म-प्रेरणाशील विचार है; जिसकी साहित्य अभिव्यक्ति करता है। जन-जन के कानों तक साहित्य का यह मुखर—घोष पहुंच सके; इस लक्ष्य को लिये आदर्श साहित्य संघ पिछले दस वर्षों से भारतीय संस्कृति और तत्व-दर्शन के आधार पर जीवन-विकासी सत्साहित्य का यथाशक्ति प्रकाशन करता आ रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ—'विजय-यात्रा' जीवन के अन्तरतम का सूक्ष्म संस्पर्श कर आत्म-जागृति उत्पन्न करनेवाली एक अनुपम कृति है। इसके रचयिता हैं—आचार्यश्री तुलसी के विद्वान अन्तेवासी मुनिश्री नथमलजी, जिन्होंने अपनी प्रबुद्ध लेखिनी द्वारा सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् महावीर की वाणी को सरस गद्यगीतों में गूंथा है।

जीवन एक यात्रा है। व्यक्ति कहीं से आता है और कहीं चला जाता है, पर यह आना और जाना—यात्रा की सफलता नहीं। यात्रा की सफलता तो तब है; जब यात्री अपनी मंजिल की सही ठौर पर पहुंच जाये। आगम-वाङ्मय के आधारपर मुनिश्री नथमलजी ने इस शाश्वत-सत्य को स्फूर्त्त रूपेण प्रगट किया है।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष होता है। आशा है, तत्व एवं सत्‌चिन्तन में अभिरुचि रखने वाले पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

आदर्श साहित्य संघ, (सरदारशहर) —जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक

कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा
विक्रम सम्वत् २०१३

"विजय-यात्रा" सर्वोदय ज्ञानमाला का छठा पुष्प है; जिसका उद्देश्य विशुद्ध तत्व-ज्ञान के साथ भारतीय और जैन-दर्शन का प्रचार करना है। इसके सुश्रृंखलित प्रकाशन में चुरु (राजस्थान) के अनन्य साहित्य-प्रेमी श्री हणुतमलजी सुराणा ने अपने स्वर्गीय पिता श्री तिलोकचन्दजी की स्मृति में नैतिक सहयोग के साथ आर्थिक योग देकर अपनी साहित्य-सुरुचि का परिचय दिया है, जो सबके लिये अनुकरणीय है। हम आदर्श-साहित्य संघ की ओर से सादर आभार प्रगट करते हैं।

—व्यवस्थापक

विजय-यात्रा

आत्मा की साक्षात्-अनुभूति (अपरोक्षानुभूति) ही विजय है[1]।

सोमिल—भगवन् ! तुम्हारी यात्रा क्या है ?

भगवान्—सोमिल ! तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक—सामायिक, स्तव (जप), वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान आदि योग में जो मेरी यतना—जागरूकता है, वह मेरी यात्रा[2] है।

१—एगं जिणेज्ज अप्पाणो एससे परमो जओ. (उत्त० ९।२४)

२—किं ते भंते ! जत्ता ? सोमिल ! जं मे तव नियम-संयम-सज्झाय-झाणा-वस्सय-मादीएसु जोगेसु जयणा सेत्तं जत्ता। (भग० १८।१०।६४६)

पूर्व कथा-वस्तु

दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर दीर्घकाल (बारह वर्ष और तेरह पक्ष) तक अनुत्तर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आर्जव, लाघव, शान्ति, मुक्ति, गुप्ति, तुष्टि, सत्य, संयम और तप से आत्मा को भावित कर—भावितात्मा, स्थितात्मा बन गये[1]।

ग्रीष्म ऋतु का वैशाख महीना था। शुक्ल दशमी का दिन था। छाया पूर्व की ओर ढल चुकी थी। पिछले पहर का समय, विजय मुहूर्त्त और उत्तरा फाल्गुनी का योग था। उस वेला में भगवान् महावीर जंभियग्राम नगरके बाहर ऋजुबालिका नदी के उत्तर किनारे श्यामक गाथापति की कृषि-भूमि में व्यावृत नामक चैत्य के निकट, शाल-वृक्ष के नीचे 'गोदोहिका' आसन में बैठे हुए ईशानकोण की ओर मुंह कर सूर्य का आताप ले रहे थे।

दो दिन का निर्जल उपवास था। भगवान् शुक्ल ध्यान में लीन थे।

ध्यान का उत्कर्ष बढ़ा। खपक श्रेणी ली। भगवान् उत्क्रान्त बन गये। उत्क्रान्ति के कुछ ही क्षणों में वे आत्म-विकास की आठ, नौ दशवीं भूमिका को पार कर गये। बारहवीं भूमिका में पहुंचते ही उनके मोह का बन्धन पूर्णांशतः टूट गया। वे वीतराग बन गये। तेरहवीं भूमिका का प्रवेश-द्वार खुला। वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के बन्धन भी पूर्णांशतः टूट पड़े।

१—आचा० २।२४।१०२२।

भगवान् अब अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनी और अनन्त वीर्य बन गये।

अब वे सर्व लोक के, सर्व जीवों के, सर्वभाव जानने-देखने लगे। उनका साधना-काल समाप्त हो चुका। अब वे सिद्धि काल की मर्यादा में पहुंच गये[1]।

भगवान् ने पहला प्रवचन देव-परिषद् में किया। देव अति विलासी होते हैं। वे व्रत और संयम स्वीकार नहीं करते। भगवान् का पहला प्रवचन निष्फल हुआ[2]।

भगवान् जंभियग्राम नगर से विहार कर मध्यम पावापुरी पधारे। वहाँ सोमिल नामक ब्राह्मण ने एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रखा था। उस अनुष्ठान की पूर्ति के लिए वहां इन्द्रभूति प्रमुख ग्यारह[3] वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे।

भगवान् की जानकारी पा उनमें पाण्डित्य का भाव जागा। इन्द्रभूति उठे। भगवान् को पराजित करने के लिए वे अपनी शिष्य-संपदा के साथ भगवान् के समवसरण में आये।

उन्हें जीव के बारे में सन्देह था। भगवान् ने उनके गुढ़ प्रश्न को स्वयं सामने ला रखा। इन्द्रभूति सहम गये। उन्हें सर्वथा प्रच्छन्न अपने विचार के प्रकाशन पर अचरज हुआ। उनकी अन्तर-आत्मा भगवान् के चरणों में झुक गई।

भगवान् ने उनका सन्देह-निवर्तन किया। वे उठे, नमस्कार किया और श्रद्धापूर्वक भगवान् के शिष्य बने। भगवान् ने उन्हें छब जीव-निकाय, पाँच महाव्रत और पच्चीस भावनाओं का उपदेश दिया[4]।

१—आचा० २।२४।१०२४

२—स्था० १०।३।७७७

३—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्यपुत्र, अकम्पित अचलभ्राता मेतार्य, प्रभास।

४—आचा० २।२४

इन्द्रभूति गौतमगोत्री थे। जैन-साहित्य में इनका सुविश्रुत नाम गौतम है। भगवान् के साथ इनके संवाद और प्रश्नोत्तर इसी नाम से उपलब्ध होते हैं। वे भगवान् के पहले गणधर और ज्येष्ठ शिष्य बने। भगवान् ने उन्हें श्रद्धा का सम्बल और तर्क का बल दोनों दिये। जिज्ञासा की जागृति के लिए भगवान् ने कहा—जो संशय को जानता है, वह संसार को जानता है; जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को नहीं जानता[1]।

इसी प्रेरणा के फलस्वरूप उन्हें जब-जब संशय हुआ, कुतूहल हुआ श्रद्धा हुई, वे झट भगवान्‌के पास पहुंचे और उनका समाधान लिया[2]।

तर्क के साथ श्रद्धा को सन्तुलित करते हुए भगवान् ने कहा—गौतम ! कई व्यक्ति प्रयाण की वेला में श्रद्धाशील होते हैं और अन्त तक श्रद्धाशील ही बने रहते हैं।

कई प्रयाण की वेला में श्रद्धाशील होते हैं किन्तु पीछे सन्देहशील बन जाते हैं।

कई प्रयाण की वेला में सन्देहशील होते हैं किन्तु पीछे श्रद्धाशील बन जाते हैं।

कई प्रयाण की वेला में सन्देहशील होते हैं और अन्त तक सन्देह-शील ही बने रहते हैं।

जिसकी श्रद्धा असम्यक् होती है, उसमें अच्छे या बुरे सभी तत्त्व असम्यक् परिणत होते हैं।

जिसकी श्रद्धा सम्यक् होती है, उसमें सम्यक् या असम्यक् सभी तत्त्व सम्यक् परिणत होते[3] हैं। इसलिए गौतम ! तू श्रद्धाशील बन।

जो श्रद्धाशील है, वही मेधावी है।

१—आचा० १।५।१।१४४।

२—भग० १।१।

३—आचा० १।५।५।१६४

जो विजय (आत्मा) में विश्वास नहीं करता, वह विजेता (परमात्मा) नहीं बन सकता।

जो विजय के पथ (उपासना-मार्ग) में विश्वास नहीं करता, वह विजेता नहीं बन सकता।

जो विजेता की सत्ता में विश्वास नहीं करता, वह विजेता नहीं बन सकता।

इसलिए आत्मा नहीं है, यह मत सोच किन्तु यह सोच कि आत्मा[1] है।

उपासना-मार्ग (संवर-निर्जरा) नहीं है—यह मत सोच किन्तु यह सोच कि उपासना-मार्ग[2] है।

परमात्मा नहीं है—यह मत सोच किन्तु यह सोच कि परमात्मा[3] है।

परम-अस्तित्व की धारा बहाते हुए भगवान् ने कहा—गौतम! लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, वेदना-निर्जरा, क्रोध-मान, माया-लोभ, प्रेम-द्वेष, नरक-तिर्यंच, मनुष्य-देव, सिद्धि-असिद्धि, साधु-असाधु, कल्याण-पापी—ये सब हैं, ऐसा संज्ञान करना चाहिए किन्तु ये नहीं हैं, ऐसा संज्ञान नहीं करना चाहिए[4]।

सब पदार्थ नित्य ही हैं तथा सब दुःख ही दुःख है—ऐसा एकान्त दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए[5]।

वस्तु-स्वरूप को समझने की यथार्थ दृष्टियां—नय अनन्त हैं।

दुःख हिंसा-प्रसूत है। आत्मा स्वयं आनन्दमय है। अनात्मा का निरोध ही शान्ति[6] है।

भगवान् के द्वारा कर्म-अकर्म, बंध और मुक्ति का मर्म पा सत्य की आराधना कर गौतम स्वयं मुक्त (विजेता) बन गये।

१—सूत्र, २।५।१३

२—सूत्र, २।५।१४

३—सूत्र० २।५।२६

४—सूत्र० २।५।१२

५—सूत्र० २।५।३०

६—संति निरोधमाहु, (सूत्र, १।१४।१६

विषयानु म

पहला विश्राम (बोधि-लाभ)

दूसरा विश्राम (चारित्र लाभ)

विषय | पृष्ठ-संख्या

विषय पृष्ठ-संख्या

पांचवां विश्राम (सिद्धि-लाभ)

उपहार

यत्मे तत्ते, तदर्प्यते.

—श्रद्धा-प्रणत

मुनि नथमल

पहला विश्राम

(बोधि-लाभ)

येऽसिद्धयन् ये च सिद्धयन्ति, ये सेत्स्यन्ति च केचन।
सर्वे ते बोधि-माहात्म्यात्, तस्माद् बोधिरुपास्यताम्॥
(प्र० सं० ६७ द्वार)

बोधि सिद्धि का प्रवेश-द्वार है।

से कोविए जिणवयणेण पच्छा,
सूरोदए पासति चक्खुणे व।
(सूत्र० १।१४।१३)

जिन-वाणी सूर्योदय है। इसी के आलोक में धर्म का दर्शन होता है।

: १ :

अमिट लौ

यह अमिट लौ है.
यह जलती रही है, जल रही है और जलती ही रहेगी[1].
खिड़कियाँ खुली क्यों हैं ?
बाहर अंधेरा ही अंधेरा है.
आलोक भीतर के कमरे में है.
यह पवन का घना आवरण क्यों डाला हुआ है ?
आलोक आगे है.
यह ढक्कन किसने रखा ?
आलोक और आगे है.

१—ण एवं भूतं वा भव्वं वा भविस्सति वा; जं जीवा अजीवा भविस्संति, अजीवा वा जीवा भविस्संति। एवं प्पेगा लोगट्ठिती पन्नता।
(स्था० १०।७०४)
(नैवं भूतं वा भव्यं वा भविष्यति वा—यज् जीवा अजीवा भविष्यन्ति, अजीवा वा जीवा भविष्यन्ति। एवमप्येका लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता।)

: १ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! जीव त्रिकालवर्ती है—शाश्वत है। इन्द्रियां उसे नहीं जान सकतीं। वह अरूप है, इन्द्रियां सरूप को ही जान सकती हैं।

मानसिक चञ्चलता रहते हुए आत्मा या स्व की अनुभूति नहीं होती। वह अनन्त ज्योतिर्मय जीव; शरीर, इन्द्रिय और मन से परे है।

: २ :

बादल से घिरा आकाश

तू सागर को गागर में भरना चाहता[1] है.

सूरज बादल से ढंका हुआ[2] है.

तू अनन्त आलोक चाहता है.

फूटी आंख को अंजन से मत आंज.

कब्र का दिग्-मोह है.

तू उस पार जाना चाहता है.

पैर दल-दल में फँसे हुए हैं.

तू किनारा चाहता है.

आर-दर्शन अधूरा है.

तू पार-दर्शन चाहता है.

१—नो इंदियगेज्झ अमुत्तभावा··· । (उत्त० १४।१९)

(नो इन्द्रियग्राह्योऽमूर्त्तभावात्···।)

२—सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराणं। (नन्दी० सू० ४२)

(सुष्ठ्वपि मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्याणाम्।)

: २ :

आलोक

भगवान् ने गौतम के अन्तर-द्वन्द्व को समेटते हुए कहा—गौतम ! तू तर्क-बल और वाणी के सहारे आत्मा को पकड़ना चाहता है, यह तेरा व्यर्थ प्रयास है। आत्मा तर्कलभ्य नहीं है। वह तपोलभ्य है।

हेतुगम्य (ऐन्द्रियिक) पदार्थ ही हेतु के द्वारा जाना जा सकता है। अहेतुगम्य (अतीन्द्रिय) पदार्थ हेतु के द्वारा नहीं जाना जासकता। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, देह-मुक्त-जीव, परमाणु, शब्द—ये छवों असर्वज्ञ के द्वारा पूर्णभाव से अज्ञेय हैं।

: २ :

अकेला चल

यह आश्लेप का जगत् है.
इसे जानता है वह नहीं जानता.
यहां नहीं है—
अपना तन्त्र.
अपना धर्म.
अपनी शिक्षा.
अपनी चर्या.
ये कान के विवर खाली नहीं हैं.
आंख की पुतलियों में प्रतिबिम्ब ही प्रतिबिम्ब.
नाक के छेद भरे पड़े हैं.
ये टपकरही हैं मधु की बूंदें.
संक्रमण ही संक्रमण.
यहां अकेला कोई नहीं है.
विश्लेप के जगत् में चल.
वहां नहीं हैं—
विवर और पुतलियां.
नहीं हैं छेद और मधु-बिन्दु.
छूत का रोग भी नहीं है.
वहां है—
अपना तन्त्र.
अपना धर्म.
अपनी शिक्षा.
अपनी चर्या.
अकेला चल.

: २ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! जिसे शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श प्रिय और अप्रिय हैं, वह आत्मा को शाब्दी वृत्ति से जानता है किन्तु वह आत्मविद् नहीं है। वह आत्मा का साक्षात् नहीं कर सकता। जिसे शब्दादि विषय प्रिय भी नहीं हैं और अप्रिय भी नहीं हैं; वही आत्मविद्, ज्ञानविद्, वेदविद्, धर्मविद्, और ब्रह्मविद्[1] है। आत्मा और अनात्मा का भेद-ज्ञान होने पर जो अनात्मभाव को त्याग कर आत्मरमण में प्रवृत्त होता है, वही मुक्त बनता है।

१—जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं। (आचा० १।३।१। १०७-१०८)
(यस्य इमे शब्दाश्च रूपाणि च रसाश्च गन्धाश्च स्पर्शाश्च अभिसमन्वागता भवन्ति, स आत्मविद् ज्ञानविद् वेदविद् धर्मविद् ब्रह्मविद्।)

: ४ :

मेरा देश

मेरा देश—
बड़ा और छोटा भी नहीं है.
वह वर्तुल और मण्डलाकार भी नहीं है.
तिकौना और चोकौना भी नहीं है.
वह काला, नीला, लाल, पीला और धोला भी नहीं है.
वह सुगन्ध और दुर्गन्ध भी नहीं है.
वह तीता, कडुआ, कसैला, खट्टा, मीठा और नमकीन भी नहीं है.
वह कर्कश, मृदु, भारी, हलका, ठंडा, गर्म, चिकना और रूखा भी नही है.
वह शरीर भी नहीं, जन्म भी नहीं और संग[1] भी नहीं है.
वह स्त्री, पुरुष और नपुंसक भी नहीं[2] है.
वह परिज्ञाता और संज्ञाता है.
उसके लिए कोई उपमा नहीं है.
वह अरूपी सत्ता है.
वह अपद[3] है, उसके लिए कोई पद नहीं है.
वाचक शब्द नहीं[4] है.

१—आसक्ति

२—आचा० १।५।६।१७१-१७२

३—अनिर्वचनीय

४—न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए, अरुवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि।
(आचा० १।५।६।१७१-१७२)
(न अन्यथा परिज्ञः संज्ञः उपमा न विद्यते, अरूपिणी सत्ता, अपदस्य पदं नास्ति।)

: ६ :

आलोक

भगवान् ने कहा —गौतम ! मोक्ष-दशामें आत्मा का पूर्ण विकास होता है या यूं कहा जाय कि जो आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था है, वही मोक्ष है । सारे विजातीय संपर्कों को तोड़ आत्मा अपने रूपमें अवस्थित होता है, तब उसके दैहिक उपाधिजनित सब भेद मिट-जाते हैं ।

देहबद्ध-दशामें आत्मा उपचार-दृष्टि से छेद्य, भेद्य, दाह्य और वध्य होता है । मुक्त-दशा में उपचार टूट जाते हैं । वह फिर सर्वथा अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अवध्य होजाता[1] है । रूपी सत्ता के द्वन्द्व से मुक्त हो वह निर्द्वन्द्व बन जाता है। आत्मवादी का चरम साध्य[2] यही है ।

१—से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हंमई । (आचा० १।३।३।११७)

(स न छिद्यते न भिद्यते न दह्यते न हन्यते ।)

२—एगप्पमुहे । (आचा० १।५।३।१५५)

(एकप्रमुखः ।)

वह शब्दों की पहुँच, तर्कों की दौड़ और कल्पनाओं की उड़ान से परे[1] है.

वह अशब्द है, अरूप है, अगन्ध है, अरस है और अस्पर्श[2] है.

मेरे देश का नागरिक वही है, जो चक्रव्यूह[3] से परे है[4].

१—सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया।

(आचा० १।५।६। १७१-१७२)

(सर्वे स्वरा निवर्तन्ते, तर्कस्तत्र न विद्यते, मतिस्तत्र न ग्राहिका।)

२—से न सद्दे न रूवे न गंधे न रसे न फासे। (आ० १।५।६। १७१-१७२)

(स न शब्दो न रूपं न गन्धो न रसो न स्पर्शः।)

३—
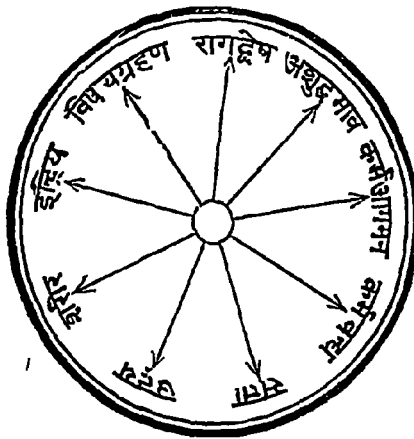
४—अच्चेइ जाईमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए। (आ० १।५।६। १७१-१७२)

(अत्येति जातिमरणस्य वृत्तमार्गं व्याख्यानरतः।)

शरीर के आकार पर से जीव को छोटा-बड़ा मानना मिथ्या-दर्शन है।[1] देहाध्यास के कारण मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति आत्मा को भी गौर-कृष्ण, स्थूल-कृश आदि कल्पनाओं के धागे से बांधने का यत्न करते हैं। कई आत्मा को देह-भिन्न मानते ही नहीं, यह भी मिथ्या-दर्शन[2] है।

१—ऊणाइरित्त मिच्छादंसण वत्तिया (स्था० २।१। ६०)

(ऊनातिरिक्त-मिथ्या-दर्शन-प्रत्यया।)

२—तव्वइरित्त मिच्छादंसण वत्तिया। (स्था० २।१। ६०)

(तद्व्यतिरिक्त-मिथ्या-दर्शन-प्रत्यया।)

: ५ :

अन्तर्-द्वन्द्व

'इन्द्रजाल' कौन कहता है ?
खुली आंखों में सपना कहां ?
क्या यह प्रश्न-चिह्न मिटनेवाला है ?
प्राचीर का पिछला भाग कैसे दीखा ?
ओह ! हृदय की चीरफाड़ !
रक्त का वहाव मुड़रहा है ·
जो पहले भी नहीं, पीछे भी नहीं, वह बीच में कैसे होगा[1] ?
यह क्या सुलझाव ?
पैर उलझ पड़े हैं ·

१—जस्सं नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कुओ सिया। (आ० ४।४। १४०)
(यस्य नास्ति पुरा पश्चात्, मध्ये तस्य कुतः स्यात्।)

: ५ :

आलोक

भगवान् के द्वारा अपने सर्वथा प्रच्छन्न प्रश्न की अभिव्यक्ति पाकर गौतम के आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। इन्द्रिय और मन से परे भी ज्ञान है? वे इस सन्देह में डुबकियाँ लेने लगे। उनका अन्त-र्द्वन्द्व सीमा पार कर गया। भगवान् की अतिशय ज्ञान-सम्पदा के सामने उनकी अन्तर्-आत्मा ने झुकना चाहा।

: ६ :

अभिनय

यह फूल
वृन्त से बंधा हुआ आया है.
खिला है.
और वृन्त की खोज में ही
सिकुड़ जायेगा.
मिट जायेगा.
खिलना भी निसर्ग है.
सिकुड़ना भी निसर्ग है.
नियति की कड़ी से जुड़ा हुआ यह फूल
वसन्त की गोद में
पलता भी है लुटता भी है.
यह उद्देश्य नहीं जानता.
लक्ष्य नहीं जानता.
यह वृन्त से बंधा हुआ फूल
उन्मेष और निमेष के आवर्त्त में
फँसा हुआ फूल
खिलता भी है.
सिकुड़ता भी[1] है.

१—आयत्ताए (आत्मत्वाय)—आत्मीयकर्मानुभवाय जाना।
(आचा० वृत्ति १।६।१। १७३)
तमेव सइं असइं अइअच्च उच्चावयफासे पडिसंवेएइ।
(आच० वृत्ति १।६।१। १७४)
(तामेव सकृत् असकृत् अतिगत्य उच्चावचान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति।)

: ६ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम! यह जीव किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जन्म नहीं लेता। उद्देश्य ज्ञान की विकास-दशा में बनता है। अविकसित ज्ञानवाले जीवों के जीवन का कोई उद्देश्य नहीं होता। जन्म और मौत बन्धन-शृङ्खला की अटूट कड़ियां हैं। जबतक बन्धन नहीं टूटेगा; तबतक काल, स्वभाव, नियति (सञ्चित कर्म), भाग्य (प्रारब्ध कर्म) और पुरुषार्थ—इस समवाय[1] के सहारे इनका अभिनय होता ही रहेगा।

१—क्वचिन् नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः,
स्वभावनियताः प्रजाः समयतन्त्रवृत्ताः क्वचित्।
स्वयंकृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन-
र्न वा विशदवाद! दोषमलिनोऽस्यहो विस्मयः॥ (सि० द्वा० ३।८।)

: ७ :

बन्दी-गृह

ओह ! यह लोहे का पिंजड़ा है ! वह रहा सोने का !
इस पंछी ने उसे भी देखा है, इसे भी देखा है.
यह कितना छोटा पिंजड़ा ! वह बहुत बड़ा !
इस पंछी ने उसे भी नापा है, इसे भी नापा[1] है.
डोर कितनी लम्बी है !
पिंजड़ों की अनन्त वंदनमालाएं इससे बंधी हुई हैं.
ये पिंजड़े खिंचे जारहे[2] हैं.
अनगिनत मोड़ आये, चले गये.
किनारा कहाँ है[3] ?

१—हत्थिस्सय कुंथुस्सय समे चेव जीवो···जीवेवि जं जारिसयं पुव्वकम्मनिबद्धं बोंदिं णिवत्तेइ तं असंखेज्जेहिं जीवपदेसेहिं सचित्तं करेइ खुड्डियं वा महालियं वा। (राजसू० ६६)

(हस्तिनः कुन्थोः सम एव जीवः·········जीवोऽपि यद् यादृशकं पूर्वकर्म-निबद्धं शरीरं निवर्तयति तत् असंख्येयैः जीवप्रदेशैः सचित्तं करोति क्षुद्रं वा महान्तं वा।

२—अनादिनिधनः क्वचित् क्वचिदनादिरुच्छेदवान्,
प्रतिस्वमविशेषजन्मनिधनादिवृत्तः पुनः।
भवव्यसनपञ्जरोऽयमुदितस्त्वया नो यथा,
तथाऽयमभवो भवश्च जिन ! गम्यते नान्यथा॥ (सि० द्वा० ३।३)

३—रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥ (उत्त०३२।७)
(रागश्च द्वेषोऽपि च कर्मबीजं, कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति।
कर्म च जातिमरणस्य मूलं, दुःखं च जातिमरणं वदन्ति॥)

: ७ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! यह जीव अनादिकाल से पर्यटन कर-रहा है। कभी इसे कुरूप और छोटा शरीर मिला और कभी सुन्दर तथा विशाल। इसके कारण राग और द्वेष हैं। इनका अन्त हुए बिना इस बहुरूपता का अन्त नहीं होता, जीव मुक्त (विदेह) नहीं होता।

: ८ :

बन्दी-गृह के द्वार

ओ यात्री !
यह मादक प्रदेश तेरा देश नहीं है.
यह बन्दी-गृह है.
ओ अशब्द ! यह कान उसका ब्रह्मास्त्र है.
ओ अरूप ! यह नेत्र उसका शस्त्रागार है.
ओ अगन्ध ! यह नाक उसका प्रचार-पत्र है.
ओ अरस ! यह जीभ उसकी परिचारिका है.
ओ अस्पर्श ! यह चमड़ी उसकी रक्षा-भित्ति है.
ओ यात्री ! ये तेरे आलय के द्वार नहीं हैं.
वहां आलोक ही आलोक है.
अनुभूति का परावलम्बन नहीं है.

: ८ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! स्पर्श, रस, गन्ध और रूप; ये पुद्गल के गुण हैं। शब्द पुद्गल का कार्य है। निरावरण जीव इनकी ग्राहक इन्द्रियों द्वारा इन्हें नहीं जानते। वे आत्म-प्रत्यक्ष से ही इन्हें जानते हैं।

स्पर्श, रस और गन्ध की अनुभूति तथा शब्द और रूपकी कामना शरीर का धर्म है। मुक्त जीव विदेह होते हैं। इसलिए उनमें पौद्गलिक अनुभूति नहीं होती[1]। पौद्गलिक जगत् विजातीय सत्ता है। पुद्गलों में फँसकर यह जीव अपने स्वरूप को नहीं पाता।

१—संज्ञिनो वेदनामनुभवन्ति विदन्ति च, सिद्धास्तु विदन्ति नानुभवन्ति।
असंज्ञिनोऽनुभवन्ति न च पुनर्विदन्ति, अजीवास्तु न विदन्ति नाप्यनुभन्ति।
(सूत्र० वृत्ति २।२)

: ९ :

संयुक्त राज्य

ओ पथिक !
जो बोलता है, वह तू नहीं है.
जो सोचता है, वह तू नहीं है.
जो सांस लेता है, वह तू नहीं है.
जो दीखता है, वह तू नहीं है.
तू काम-रूप से परे अरूप है.
तू विभूति से अभिभूत नहीं है.
तू इस तेज से भी परे है.
जो सब विकारों का मूल है, वह तू नहीं है.
यह तेरा और उसका मिलाजुला राज्य है.

: ९ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम पुद्गल के आठ वर्ग (भाषा-वर्गणा, मन-वर्गणा, श्वासोछ्वास-वर्गणा, औदारिक-शरीर-वर्गणा, वैक्रिय-शरीर-वर्गणा, आहारक-शरीर-वर्गणा, तैजस-शरीर-वर्गणा, कार्मण-शरीर-वर्गणा) हैं।

भाषा-वर्गणा के परमाणु वचन के सहायक हैं। मन-वर्गणा के परमाणु चिन्तन के सहायक हैं। श्वासोछ्वास-वर्गणा के परमाणु श्वासोछ्वास के योग्य हैं। औदारिक-वर्गणा के परमाणु स्थूल शरीर की रचना करते हैं। वैक्रिय-वर्गणा के परमाणु इच्छानुकूल शरीर की रचना करने-में समर्थ हैं। आहारक-वर्गणा के परमाणु प्रश्न-उत्तर-वाहक-शरीर की रचना करने में समर्थ हैं। तैजस-वर्गणा के परमाणुओं से पाचन होता है और तेज निखरता है। कार्मण-वर्गणा के परमाणु इन सब के मूल कारण (मूल-कोष) हैं। बोलना, चलना, खाना, पीना और शरीर-निर्माण आदि क्रियाएँ न पौद्गलिक हैं और न आत्मिक। ये इन आठ वर्गों और इनसे घिरेहुए जीव—दोनों के संयोग से होनेवाली—सांयोगिक क्रियाएँ हैं। इन आठ वर्गों से सम्बन्ध टूटने पर जीव मुक्त होता[1] है।

१—उत्त० २९।७२

: १ :

विश्व-राज्य

यह विश्व-राज्य है.
आदिवासी कोई नहीं.
सब सभ्य हैं.
प्रान्त[1] और जातियों[2] की जटिलता से मुक्त—इस राज्य में
केवल चार प्रान्त और पांच जातियां हैं.
बहुत बड़ा भाईचारा.
सब सब जगह
आते हैं.
जाते हैं.
रहते हैं.
नागरिकता निर्बाध[3] है.
वाहन सबके पास[4] हैं.
स्वनिर्मित और स्वचालित.
कोई नहीं जानता—किसे कहां जाना है ?
काल-मर्यादा होते ही
वे स्वयं चल पड़ते[5] हैं

१—निरय गई तिरिय गई मणुय गई देव गई। (स्था० ५।३। ४४२)

२—एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया। (आव०)

३—अप्पडिहयगइ। (राज० सू० ६६)

४—सिय विग्गहगइसमावन्नगे, सिय अविग्गहगइसमावन्नगे। (भग० १।७। ५९)

५—सतो उववज्जंति नो असतो उववज्जंति। सतो उव्वट्टंति नो असतो उव्वट्टंति।
(भग० ९।३२। ३७८)

: १० :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम! इस विश्व में नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार गतियां और एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—ये पांच जातियां हैं।

जीव स्वकृत कर्म की प्रेरणा से इनमें परिभ्रमण करते रहते हैं—कर्म से भारी होते हैं, वे नीचे जाते हैं और जो हलके होते हैं, वे ऊर्ध्व-गति में उत्पन्न होते हैं।

नरक-गति में उत्पन्न होने के चार कारण[1] हैं—

(१) महा-आरम्भ, (२) महा-परिग्रह, (३) पंचेन्द्रिय-वध (४) मांसाहार।

१—स्था० ४।४।३७३

संकेत की ओर.

कोई ऊपर जाता है.

कोई नीचे'.

कोई मध्यमें.

कोई गड़वड़ नहीं होती.

विचित्र है इसकी रहस्यपूर्ण व्यवस्था.

विचित्र है यह शास्ता-रहित राज्य.

विचित्र है इस विश्व-राज्य का अनुशासन.

१—कम्मोदएणं, कम्मगुरुयत्ताए कम्मभारियत्ताए कम्मविगतीए कम्मविसोहीए कम्म-विसुद्धीए। (भग० ९।३२। ३७८)

तिर्यञ्च-गति में उत्पन्न होने के चार कारण हैं—

(१) माया, (२) गूढ़-माया (छल को छल द्वारा छिपाना), (३) अलीक-वचन,(४) कूट-तौलमाप।

मनुष्य गति में उत्पन्न होने के चार कारण हैं :—

(१) प्रकृति-भद्रता, (२) प्रकृति-विनीतता, (३) सानुक्रोशता (सदयता), (४) अमात्सर्य।

देव-गति में उत्पन्न होने के चार कारण हैं :—

(१) सराग-संयम, (२) संयमासंयम, (३) बाल-तप, (४) अकाम-निर्जरा।

१—स्था० ४।४। ३७३

: ११ :

द्वन्द्व का क्रीड़ा-प्राङ्गण

यह घर पुराना है.
बहुत पुराना.
लौ जितनी पुरानी है,
उतना पुराना.
इसके अनन्त आलय
द्वन्द्व की ईंटों से बने हुए हैं.
प्रत्येक आलय भूल भुलैया है.
जो सुख के द्वार से घुसता है,
वह निकलता है दुःख के द्वार से.
जो जन्म के द्वार से घुसता है,
वह मौत के द्वार से निकलता है.
वह निकल जाना ही चाहता है.
किन्तु घूमघाम, सुख और जन्म के द्वार पर लौट आता है.
फिर घुस जाता है.
सुख-दुःख को भुला देता है,
जन्म मौत को.
द्वन्द्व का क्रीड़ा
द्वन्द्व में ही रह जाता[1] है.

१—तओ से जायंति पओयणाइं, निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि ।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा, तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ॥
(उत्त० ३२।१०५)
(ततस्तस्य जायन्ते प्रयोजनानि, निमज्जयितुं मोहमहार्णवे ।
सुखैषिणो दुःखविनोदनार्थं, तत्प्रत्ययमुद्यच्छति च रागी ॥)

: ११ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम! तैजस और कार्मण, ये दो शरीर अनादिकालीन[1] हैं। सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु के आवर्त्त-प्रत्यावर्त्त, स्थूल शरीर और सारी वैभाविक परिस्थितियों के मूल कारण, ये कार्मण शरीर ही हैं।

१—तेयासरीरप्पओगवंधे…अणाइए वा अपज्जवसिए अणाइए वा सपज्जवसिए।
कम्मासरीरप्पओगवंधे…अणाइए वा अपज्जवसिए अणाइए वा सपज्जवसिए।
(भग० ८।९।३५१)
(तैजसशरीरप्रयोगवन्ध :………अनादिको वा अपर्यवसितः अनादिको वा सपर्यवसितः। कर्म-शरीर-प्रयोग-वन्धः………अनादिको वा अपर्यवसितः अनादिको वा सपर्यवसितः।)

: १२ :

अवगुण्ठन

मुंह पर घना परदा डाला हुआ था[1].
इसके साथ जुड़ी हुई थीं—
सुरक्षा और लाज की कल्पनाएं.
पार-दर्शन की सम्भावनाएं मिट चुकी थीं.
नियति का झंझावात आया.
अवगुण्ठन उड़ चला.
मुक्त सांस ने
मानस को झकझोरा.
अनुभूतियां नीचे रह गईं.
मानस ऊपर उठ गया.
ओह! कितना भयानक!
कितना अनर्थकारक!
कितना तमोमय!
है यह अवगुण्ठन.
इससे ढंका हुआ था—
मेरा जीवन! मेरा आलोक! और मैं!

१—मंदा मोहेण पाउड़ा। (आचा० १।२।२।७४)
(मंदा मोहेन प्रावृताः।)

: १२ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! मोह के आवरण ने जिनके चैतन्य को ढंक रखा है, वे ऐन्द्रियिक सुखानुभूति से परे जो विशाल आनन्द-राशि है, उसे नहीं समझ पाते। विषय की अनुभूति से परे जो वस्तु-निरपेक्ष सहज आनन्द है, वही शाश्वत और सर्वतोभद्र है। सहज साम्य के सुख को जो एकबार भी छू लेते हैं, वे फिर इसे नहीं छोड़ते।

: १३ :

आँखमिचौनी

यह मधुरिमा है.
कटुता आँखमिचौनी खेल रही है.
यह कटुता है.
मधुरिमा निलयन-क्रीड़ा कर रही है.
दोनों एक ही मन्दिर की परिक्रमा.
वलय का आदि-अन्त नहीं है.
पहिये का एक भाग ऊपर उठता है,
दूसरा नीचे चला जाता है.
आलोक और तिमिर के कलेवर दो नहीं हैं.
मधुर की अभिव्यक्ति कटु का विस्मरण है.
कटु की अभिव्यक्ति मधुर का निलयन.
कटु मधुर की व्याख्या है.
कटु की व्याख्या मधुर.

: १३ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! राग उत्पन्न करनेवाले शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव (अभिप्राय) मनोज्ञ (इष्ट या प्रिय) कहलाते हैं। मनोज्ञ शब्दादि सुखानुभूति के हेतु बनते हैं, इसलिए वे सुख कहलाते हैं। अमनोज्ञ शब्दादि दुःखानुभूति के हेतु बनते हैं, इसलिए वे दुःख कहलाते[1] हैं ! सुख-दुःख की कारण-सामग्री की अपेक्षा उनके छव भेद होते हैं :—

(१) श्रोत्र-सुख श्रोत्र-दुःख
(२) चक्षु-सुख चक्षु-दुःख
(३) घ्राण-सुख घ्राण-दुःख
(४) रसना-सुख रसना-दुःख
(५) स्पर्श-सुख स्पर्श-दुःख
(६) मानसिक सुख मानसिक दुःख[2]

ये शब्दादि इन्द्रिय-विषय सराग आत्मा में ही मनोज्ञता और अमनोज्ञता उत्पन्न करते हैं। वीतराग आत्मा पर इनका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। वे अनुभूतिजन्य सुख से ऊपर उठ जाते[3] हैं।

१—तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु, तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु।
(उत्त० ३२।२२)

(तद् रागहेतुं तु मनोज्ञमाहुः, तद् द्वेषहेतुममनोज्ञमाहुः।)

२—स्था० ६।३।४८८

३—विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे विमणुन्नयं वा, निव्वतयंती अमणुन्नयं वा॥ (उत्त० ३२।१०६)

(विरज्यमानस्य चेन्द्रियार्थाः, शब्दाद्यास्तावत्प्रकाराः।
न तस्य सर्वेऽपि मनोज्ञतां वा, निर्वर्तयन्ति अमनोज्ञतां वा॥)

दोनों सापेक्ष.
एक ही मां की सन्तान.
अनुभूति का विश्व निलयन-क्रीड़ा का प्राङ्गण है.
चैतन्य के आदर्श में वाहर का प्रतिविम्ब नहीं होता.
वह सहज माधुर्य,
अनुभूति से अमाप्य,
कटुता से अव्याकृत,
स्वाश्रित है.
इस रेखा से परे माधुर्य ही माधुर्य है.

इन्द्रियानुभूति का सुख परायत्त (पर-पदार्थ-सापेक्ष) सुख है। आत्म-लीनता का सुख स्वायत्त (पर-पदार्थ-निरपेक्ष) सुख है।

(१) आरोग्य, (२) शुभ-दीर्घ-आयु, (३) आढ्यता, (४) काम—श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय के विषय—शब्द और रूप, (५) भोग—घ्राण, रसना और स्पर्शन के विषय—गन्ध, रस और स्पर्श, (६) अस्ति—आवश्यकतानुसार वस्तु की उपलब्धि, (७) शुभ-भोग—भोग-क्रिया, (८) संतोष, (९) निष्क्रम—संयम-ग्रहण, (१०) अनाबाध—निर्विघ्न सुख — मोक्ष सुख—इस प्रकार सुख के दश प्रकार भी[1] हैं।

इनमें सुखानुभूति के सात कारण अनात्मिक—दैहिक, विजातीय और राग को उभारनेवाले हैं। इसलिए वे तात्त्विक नहीं हैं। अन्तिम तीन आत्मिक और स्वायत्त हैं, इसलिए वे तात्त्विक हैं। आत्म-समाधि में लीन रहनेवाला श्रमण एक वर्षीय श्रामण्य-काल में पौद्गलिक सुख के चरम उत्कर्ष को लांघ देता[2] है। तात्पर्य यही है कि पौद्गलिक सुख-दुःख की मिश्रित स्थिति है। आत्म-सुख केवल सुख ही है, इसलिए वह अत्यन्त और निर्बाध सुख है। पौद्गलिक सुख सान्त, साबाध, अनैकान्तिक, अनात्यन्तिक और परायत्त होता है। आत्मिक सुख या आनन्द अनन्त, अनाबाध, ऐकान्तिक, आत्यन्तिक और स्वायत्त होता[3] है। इसलिए आत्मा को जाननेवाला सुख-दुःख के मिश्रण को छोड़ एकान्त सुख में जाना चाहेगा।

१—दसविहे सोक्खे पन्नत्ते तञ्जहा—आरोग्ग, दीहमाउं, अड्ढेज्जं,
काम, भोग, अत्थि, सुहभोग, संतोस, निक्खम्ममेव, ततो अणाबाहे।
(स्था० १०।७३७)

(दशविधं सौख्यं प्रज्ञप्तं तद्यथा—आरोग्यम्, दीर्घमायुः, आढ्यत्वम्, कामः, भोगः, अस्ति, शुभभोगः, सन्तोषः, निष्क्रमः, अनाबाधः।)

२—भग० १४।९

३—आत्मा यच्चानन्तमनाबाधमैकान्तिकमात्यन्तिकमात्मायत्तमानन्दमाप्नोति।
(स्था० १०।७४०)

: १४ :

बीज का विकास

सारी शक्तियों का केन्द्र
यही छोटा सा बीज है.
यह विशाल वृक्ष
इसी की परिणति है.
यह चमड़ी से बंधा हुआ बीज
दीर्घ-रात्र से यूं ही पड़ा है.
नहीं मिला इसे उर्वर खेत,
मिट्टी और पानी का सहकार,
कृषक का संयोग.
बीज बीज ही पड़ा है.
× × × ×
यह अंकुरित बीज
उत्क्रान्ति की दिशा में चल पड़ा है.
खोरी द्विविधा में है.
जड़ें जम गईं.
तना बढ़ चला.
स्कन्ध में से—

: १४ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम! आध्यात्मिक विकास के तर-तम भाव की अपेक्षा जीवों के चवदह स्थान—गुण स्थान[1] हैं—

(१) मिथ्या-दृष्टि, (२) सास्वादन-सम्यक् दृष्टि, (३) सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि (मिश्र), (४) अविरत-सम्यक्-दृष्टि, (५) देश-विरति (६) प्रमत्त-संयति, (७) अप्रमत्त-संयति, (८) निवृत्ति-बादर, (९) अनिवृत्ति-बादर, (१०) सूक्ष्म-संपराय, (११) उपशान्त-मोह, (१२) क्षीण-मोह, (१३) सयोगी केवली, (१४) अयोगी केवली।

१—जो (सत्य को) नहीं जानता किन्तु (असत्य को) टानता है, वह आग्रही (मिथ्या-दृष्टि) है।

जो नहीं टानता किन्तु नहीं जानता, वह अनाग्रही (मिथ्या-दृष्टि) है।

२—जो जानकर भी नहीं जानने की ओर झुकता है, वह पतन-शील (सम्यक्-दृष्टि) है।

३—जो जानता भी है और नहीं भी जानता, वह सन्दिग्ध (सम्यक्-मिथ्या-दृष्टि) है।

१—कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउदस जीवट्ठाणा पन्नता तंजहा—मिच्छदिट्ठी सासायणसम्मदिट्ठी सम्मामिच्छदिट्ठी अविरयसम्मदिट्ठी विरयाविरए पमत्तसंजए अप्पमत्तसंजए नियट्टीबायरे अनियट्टीबायरे सुहुमसंपराए उवसामए वा खवए वा उवसंतमोहे खीणमोहे सजोगी केवली अजोगी केवली। (सम० १४ सूत्र)

(कर्मविशोधिमार्गणां प्रतीत्य चतुर्दश जवि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—मिथ्यादृष्टिः, सास्वादनसम्यक्दृष्टिः; सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, अविरतसम्यग्दृष्टिः, विरताविरतः, प्रमत्तसंयतः, अप्रमत्तसंयतः, निवृत्तिबादरः, अनिवृत्तिबादरः, सूक्ष्मसम्परायः, उपशान्तमोहः, क्षीणमोहः, सयोगी केवली, अयोगी केवली।)

निकल पड़े
शाखा,
प्रशाखा,
पत्र,
पुष्प,
फल
और रस.
साध्य सध गया.
बीज स्वरस हो गया.
सरस हो गया.

४—जो (सत्य—संयम को) जानता है किन्तु (असत्य—असंयम को) नहीं त्यागता, वह बाल (अविरत-मिथ्या-दृष्टि) है।

५—जो जानता है किन्तु पूर्ण नहीं त्यागता, वह बाल भी है और पण्डित भी (देश-विरत-सम्यक्-दृष्टि) है।

६—जो जानता भी है, त्यागता भी है और भूलें भी करता है, वह पंडित है किन्तु प्रमादी (प्रमत्त-संयति) है।

७—जो जानता भी है, त्यागता भी है, भूलें भी नहीं करता, वह अप्रादी (अप्रमत्त-संयति) है।

८, ९, १०—जो अप्रमादी है किन्तु रंगीन है, वह सराग (निवृत्ति-बादर, अनिवृत्ति-बादर, सूक्ष्म-सम्पराय) है।

११, १२—जो रंगीन भी नहीं है (वीतराग है) किन्तु पूर्ण ज्ञानी भी नहीं है, वह असर्वज्ञ (उपशान्त-मोह, क्षीण-मोह) है।

१३—जो सर्वज्ञ है किन्तु देह से बंधा हुआ है, वह सदेह (सयोगी केवली) है।

१४—शरीर की क्रिया रुद्ध हो गई, वह विदेह (अयोगी केवली) है।

देह छूट गया, वह मुक्त है। यही आत्मा का पूर्ण विकास है। पहले अवस्थान में बीजरूप आध्यात्मिक विकास होता है। दूसरे अवस्थान में आध्यात्मिक विकास आरोह से अवरोह की ओर होता है—यह उनका 'सन्धि-काल' है। तीसरे अवस्थान में आध्यात्मिक विकास लगभग पहले जैसा होता है। चौथे अवस्थान में आध्यात्मिक विकास अंकुरित हो उठता है। यह आरोह का पहला सोपान है। इससे आगे आरोह-मार्ग निर्बाध हो जाता है।

: १५ :

मानवता की विजय

कपड़ा रंगाहुआ था पर नीली से नहीं.
पवन ने हाथ पसारा.
बूँदें रुक न सकीं.
कुंकुम का रंग घुला.
बाल-सूर्य की आभा चमकने लगी.
मानवता की सत्ता निखर उठी.
मानवता बोल उठी—
ओ स्वयं बुद्ध विजेता !
जिन लोकान्तिक देवों ने तुझे जगाने का यत्न किया,
उनके वे शब्द—
अर्हत् ! जागो, उठो,
सर्वहिताय तीर्थ का प्रवर्तन करो'—
आज भी उन्हें मानसिक संकोच में डाले हुए होंगे.
विजेता ! तेरी विजय-यात्रा पूर्ण होचुकी.
वे अब भी पराजय की कारा के बन्दी हैं.

१—एते देवणिकाया, भगवं बोहिंति जिणवरं वीरं ।
सव्वजगज्जीवहियं, अरहं तित्थं पव्वतेहि ॥ (आचा० २।२४।६।१०।१३)
(एते देवनिकायाः, भगवन्तं बोधयन्ति जिनवरं वीरम् ।
सर्वजगज्जीवहितार्थम्, अर्हन् ! तीर्थं प्रवर्तस्व ॥

: १५ :

आलोक

भगवान् ने कैवल्य-प्राप्ति के बाद पहला प्रवचन देव-परिषद् में किया।

मनुष्य वहाँ उपस्थित नहीं थे। देव अति विलासी होते हैं, इसलिए वे संयम या व्रत स्वीकार नहीं करते।

दूसरा प्रवचन मनुष्य-परिषद् में हुआ, वहाँ गौतम आदि चंवालीस सौ शिष्य बने।

साधना का सर्वोत्कृष्ट अधिकारी मनुष्य ही है। मनुष्य-देह से ही जीव मुक्त[1] होते हैं।

१—अमणुस्सेसु णो तहा। (सूत्र० १।१५।१६)

(अमनुष्येषु नो तथा।)

(न ह्यमनुष्या अशेषदुःखानामन्तं कुर्वन्ति, तथाविधसामग्र्यभावात।)

(सूत्र० वृत्तिः)

: १६ :

जागरण का सन्देश

बीतीहुई रात लौटकर नहीं आती[1], यह किसने गाया ?

जागो, क्यों नहीं जाग रहे[2] हो, यह महाप्रलय का शंख किसने फूँका ?

विजय क्षितिज के उस पार[3] है, यह मंत्र किसने पढ़ा ?

आलोक येह नहीं[4] है, यह किसने कहा ?

ओह ! समय का मूल्यांकन मुझे सताने लगा है.

नींद ने मुझसे सदा के लिए विदा लेली.

चारों ओर पराजय ही पराजय के दर्शन होने लगे हैं.

आँखों के सामने कुहासा ही कुहासा है.

ओ गायक ! मुझे सम्हाल.

इस रोगी का रोग तेरी इस शंख-ध्वनि ने उभारा है.

अब यह विजातीय तत्त्व को बाहर निकालकर ही सुख की सांस लेगा.

ओ कथक ! अब तेरा प्रकाश फैला.

१—णो हूवणमंति राइयो। (सूत्र० १।२।१।१)

(न खलूपनमन्ति रात्रयः।)

२—संबुज्झह किं न बुज्झह। (सूत्र० १।२।१।१)

(संबुध्यध्वं किन्न बुध्यध्वम्।)

३—नो सुलभं पुणरावि जीवियं। (सूत्र० १।२।१।१)

(नो सुलभं पुनरपि जीवितम्।)

४—संबोहि खलु पेच्च दुलहा। (सूत्र० १।२।१।१)

(संबोधिः खलु प्रेत्य दुर्लभा।)

: १६ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! जो समय का मूल्य नहीं आंकता, वह सोया हुआ है। जो अपनी पराजय की अनुभूति नहीं करता, वह सोया हुआ है। जो आलोक के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह सोया हुआ है। श्रद्धा, ज्ञान और आचरण से शून्य है, वह सोया हुआ है।

दैहिक नींद वास्तव में नींद नहीं है, यह द्रव्य-नींद है। वास्तविक नींद श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की शून्यता है।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं—

(१) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से जागता है, भाव-नींद से सोता है, वह असंयमी है।

(२) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से भी सोता है और भाव-नींद से भी सोता है, वह प्रमादी और असंयमी दोनों हैं।

(३) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से सोता है किन्तु भाव-नींद से दूर है, वह संयमी है।

(४) कोई व्यक्ति द्रव्य और भाव नींद—दोनों से दूर है, वह अति जागरूक संयमी है।

भगवान् ने कहा—गौतम ! यह आत्म-जागरण का मंगल-पाठ है। भाव-नींद से जागो, उठो।

: १७ :

विजय-दुन्दुभि के स्वर

पुराने घर को फूँक डाल[1], जहां अंधेरा है.

पुराने साथियों को छोड़[2], जो रूढिवादी हैं.

पुराने नेता के सामने मत झुक[3], जो देशद्रोही है.

नया संसार जो बसाना है.

यह विजय की भेरी कहां बजरही है ?

इन्हीं स्वरों ने मुझे विद्रोही बनाया था.

१—अभिकंखे उवधिं धूणित्तए। (सूत्र० १।२।२।२७)

(अभिकाङ्क्षेत् उपधिं धूनयितुम्।)

२—मा पेह पुरा पणामए। (सूत्र० १।२।२।२७)

(मा प्रेक्षस्व पुरा प्रणामकान्।)

३—जे दूमण तेहिं णो णया। (सूत्र० १।२।२।२७)

(ये दुर्मनसस्तेषु नो नताः।)

: १७ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! माया और ज्ञानावरण आदि कर्म-परमाणु संसारी जीवों के अनादिकालीन आवास—घर हैं। यहाँ रहने-वालों के साथी हैं—इन्द्रियों के विषय (शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श) और उनका भोग। जो काम-भोग से पराजित हैं—दुर्मनस् हैं, वे यहाँ रहनेवालों के नेता हैं—मार्ग-दर्शक हैं। वे भोली-भाली जनता को उकसाकर, उभारकर अपना स्वार्थ साधते हैं। यह असमाधि या अशान्ति का संसार है। समाधि या शान्ति का संसार राग-द्वेष के उस पार है। जो पौद्गलिक आसक्ति से हटकर आत्मा में लीन होजाता है, वह शान्त संसार में चलाजाता[1] है।

१—ते जाणंति समाहिमाहियं। (सूत्र० १।२।२।२७)
(ते जानन्ति समाधिमाख्यातम्।)

दूसरा विश्राम

(चारित्र-लाभ)

चरित्त संपन्नयाए…सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ।
(उत्त० २९/६१)

चारित्र-सम्पदा से सब दुःखों का अन्त होता है ।

: १ :

विजय का अभियान

ओ ! चाँद से अधिक निर्मल ! ओ सूर्य से अधिक तेजस्वी ![1]
ओ ! समुद्र से अधिक गम्भीर ! विजेता !
मुझे विश्व के उस छोर पर ले चल'—जो
चाँद और सूरज के विना ज्योतिर्मय[2] है.
धन और परिकर के विना आनन्दमय[3] है.
अनन्त के आश्लेष में निर्द्वन्द्व[4] है.

१—चंदेसु निम्मलयरा आइच्चेसु अहियं पयासयरा,
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु । (आव० चतुर्विंशस्तुति)
(चन्द्रेभ्यो निर्मलतरा आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः,
सागरवरगम्भीराः सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ।)

२—पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठीहिं णंताहिं । (औप० सिद्धाधिकार ११)
(पश्यन्ति सर्वतः खलु केवलदृष्टिभिरनन्ताभिः ।)

३—अउलं सुहं संपन्ना, उवमा जस्स नत्थि उ । (उत्त० ३६।६७)
(अतुलं सुखं सम्पन्नाः, उपमा यस्य नास्ति तु ।)

४—जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खय विमुक्का ।
अण्णोण्णसमोगाढा, पुट्ठा सव्वेय लोगंते ॥ (औप० सिद्धाधिकार ९)
(यत्र चैकः सिद्धः, तत्रानन्ता भवक्षयविमुक्ताः ।
अन्योन्यसमवगाढाः, स्पृष्टाः सर्वे च लोकान्ते ॥)

सत्य और शिव में ले चल.

अमृत और अनन्त में ले चल.

जहाँ जाने पर कोई लौटकर नहीं आता[1]—वहाँ ले चल.

विश्व के सर्वोच्च शिखर पर ले चल[2].

स्वतन्त्रता के आलय में ले चल[3].

ओ विजेता ! मेरी विजय-यात्रा वहीं पूर्ण होगी.

: १ :

आलोक

गौतम ने कहा—भगवन् ! तर्क-सत्य से परे जो ध्रुव-सत्य है, उसके लिए मैं अभियान करना चाहता हूं। आप मेरा पथ-दर्शन करें। मुझे उस ओर लेजाएं।

१—सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति। (आव० शक्रस्तुति)

(शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति। [सिद्धिगति-नामधेयं स्थानम्])

२—लोयग्गेति वा। (औप० सिद्धाधिकार)

(लोकाग्र इति वा।)

३—मुत्तालएत्ति वा। (औप० सिद्धाधिकार)

(मुक्तालय इति वा।)

: २ :

समर्पण

ओ विजेता ! तूने कहा—"उठो, प्रमाद मत करो"[1],
वह संदेश मैंने सुन लिया है.
मैं विजय की आराधना के लिए चल पड़ा[2] हूं.
अब मैं वह कार्य नहीं करूँगा, जो पराजय के राज्य में किया[3] करता था.
ओ विजेता ! मैं तेरे इंगित से खिंच चुका हूं.
अब तू मुझे—
असंयम से संयम की ओर ले चल.
अब्रह्म से ब्रह्म की ओर ले चल.
अकर्तव्य से कर्तव्य की ओर ले चल.
अकर्मण्यता से कर्मण्यता की ओर ले चल.
अज्ञान से ज्ञान की ओर ले चल,

१—उट्ठिए नो पमायए। (आचा० १।५।२।१४७)
(उत्थितो नो प्रमाद्येत्।)

२—अब्भुट्ठिओमि आराहणाए। (आव० श्रमण सूत्र ५वीं पाटी)
(अभ्युत्थितोऽस्मि आराधनायै।)

३—इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासि पमाएणं। (आचा० १।१।४।१३६)
(इदानीं नो यदहं पूर्वमकार्षं प्रमादेन।)

मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर ले चल.
अबोधि से बोधि की ओर ले चल.
अमार्ग से मार्ग की ओर ले चल[1].
नास्तिकता से आस्तिकता की ओर ले चल.

: २ :

आलोक

भगवान् के द्वारा मार्ग-दर्शन पाकर गौतम ने कहा—भगवन्! असंयम, अब्रह्म, अकल्प, अज्ञान, अक्रिया, मिथ्यात्व, अबोधि, अमार्ग—यह विराधनाका पथ है। आराधना का पथ इसके विपरीत है। मैं विराधना के पथ से हटकर आराधना के पथ पर आने का संकल्प करता हूँ।

१—असंजमं	परियाणामि	संजमं	उवसंपवज्जामि।
अबंभं	परियाणामि	बंभं	उवसंपवज्जामि।
अकप्पं	परियाणामि	कप्पं	उवसंपवज्जामि।
अन्नाणं	परियाणामि	नाणं	उवसंपवज्जामि।
अकिरियं	परियाणामि	किरियं	उवसंपवज्जामि।
मिच्छत्तं	परियाणामि	सम्मत्तं	उवसंपवज्जामि।
अबोहिं	परियाणामि	बोहिं	उवसंपवज्जामि।
अमग्गं	परियाणामि	मग्गं	उवसंपवज्जामि।

(आव० श्रमणसूत्र ५वीं पाटी)

(असंयमं	परिजानामि	संयममुपसंपद्ये।
अब्रह्म	परिजानामि	ब्रह्म उपसंपद्ये।
अकल्पं	परिजानामि	कल्पमुपसंपद्य।
अज्ञानं	परिजानामि	ज्ञानमुपसंपद्ये।
अक्रियां	परिजानामि	क्रियामुपसंपद्ये।
मिथ्यात्वं	परिजानामि	सम्यक्त्वमुपसंपद्ये।
अबोधिं	परिजानामि	बोधिमुपसंपद्ये।
अमार्गं	परिज्ञानामि	मार्गमुपसंपद्ये।)

: ३ :

याचना

ओ आरोग्यदाता !
विजातीय तन्त्र के आरोग्य-मन्दिर में रहकर
जो दवा की शीशियां उंडेलता ही रहा,
उसे तू आरोग्य दे.
ओ बोधिदाता !
विजातीय विद्यालय में सब कुछ पढ़कर
जो कुछ भी नहीं पढ़ा,
उसे तू बोधि दे.
ओ मुक्तिदाता !
विजातीय शासन की अनगिनत उपाधियां पाकर भी
जो शान्त नहीं बना,
उसे तू समाधि[1] दे.

१—आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु। (आव० चतुर्विंशस्तुति गाथा-६)
(आरोग्यबोधिलाभं, समाधिवरमुत्तमं ददतु।)

: ३ :

आलोक

गौतम ने कहा—भगवन् ! मैं तुम्हारा उपदेश सुन, समझ चुका हूं कि विजातीय तत्त्व का संग्रह ही रोग है। विजातीय तत्त्व का संग्रह करने की जो निष्ठा है, वही अबोधि है। विजातीय तत्त्व के संग्रह को बनाये रखने की जो प्रवृत्ति है, वही दुःख है। भगवन् ! मैं नश्वर आरोग्य, नश्वर बोधि और नश्वर समाधिसे हटकर शाश्वत आरोग्य, शाश्वत बोधि और शाश्वत समाधि का लाभ चाहता हूं।

: ४ :

वन्दना

ओ विजेता[1] ! तुझे नमस्कार है.
ओ तीर्थंकर ! तुझे नमस्कार है.
ओ स्वयंबुद्ध ! तुझे नमस्कार है.
ओ लोक प्रद्योतकर ! तुझे नमस्कार है.
ओ अभयदाता ! तुझे नमस्कार है.
ओ चक्षुदाता ! तुझे नमस्कार है.
ओ मार्गदाता ! तुझे नमस्कार है.
ओ शरणदाता ! तुझे नमस्कार है.
ओ मुक्तिदाता ! तुझे नमस्कार है.

---

१ णमोत्थुणं—अरिहंताणं······तित्थयराणं
सयंसंबुद्धाणं······लोगपज्जोअगराणं अभयदयाणं
चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं·········
मोअगाणं । (आव० शक्रस्तुति)
(नमोऽस्तु—अर्हद्भ्यः······तीर्थकरेभ्यः स्वयंसंबुद्धेभ्यः······
लोकप्रद्योतकरेभ्यः अभयदयेभ्यः चक्षुर्दयेभ्यः
मार्गदयेभ्यः शरणदयेभ्यः······मोचकेभ्यः ।)

: ४ :

आलोक

भगवन् ! मैंने जाना है—आराधना के क्षेत्र में वन्दनीय वही है जो विजय पा चुका, जो सर्व-जीव-हित का प्रवर्तक है, जो स्वयं जागा हुआ है, जो प्रकाशपुञ्ज है; जो अभय, आलोक, मार्ग और मुक्ति का प्रतीक है और जो त्राण है।

: ५ :

शरण

ओ विजेता ! अर्हत्, सिद्ध, साधु और अर्हत् का धर्म—
ये ही मेरी विजय-यात्रा के आशीर्वाद हैं.
ओ विजेता ! अर्हत्, सिद्ध, साधु और अर्हत् का धर्म—
ये ही मेरी विजय-यात्रा के कर्णधार हैं.
ओ अर्हत ! तू मुझे विजय-यात्रा की अनुज्ञा दे.
मुझे अर्हत्, सिद्ध, साधु और अर्हत् के धर्म की शरण में ले.
मैं विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान चाहता हूं.

१—चत्तारि मंगलं—अरिहंता मंगलं सिद्धा मंगलं
साहू मंगलं केवलिपन्नतो धम्मो मंगलं।
चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा
साहू लोगुत्तमा केवलिपन्नतो धम्मो लोगुत्तमो।
चत्तारि सरणं पवज्जामि—अरिहंता सरणं पवज्जामि सिद्धा सरणं पवज्जामि
साहू सरणं पवज्जामि केवलिपन्नतं धम्मं सरणं पवज्जामि।
(आव० ४)

: ५ :

आलोक

भगवन् ! आपने कहा—अर्हत् शाश्वत समाधि के सर्वोच्च सेनानी हैं। सिद्ध उसके आदर्श-केन्द्र हैं। साधु उसके सैनिक हैं। धर्म उसका अप्रतिहत पथ है। इन पर मेरी श्रद्धा जमी है। मैं इनकी शरण में आना चाहता हूं।

: ६ :

विश्वास-व्यञ्जना

यह विजेता का राजपथ है.
ओ श्रद्धा ! यहीं टिको, यह रहा सत्य,
यह रहा श्रेय, यह रहा आलोक.
तेरा आलय यही है.
यही शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण और तर्कसंगत है.
यही सब घावों को भरनेवाला है.
यही सिद्धि-पथ और मुक्ति-पथ है.
यही शान्ति-पथ और विजय का पथ है.
यही है—
सब सन्देहों से परे,
सब दुःखों को मिटानेवाला.
ओ प्रेम ! मुड़ो.
ओ रुचि ! जुड़ो.
यह रहा विजेता का राजपथ[1],

१—इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुन्नं नेयाउयं संसुद्धं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमविसंधिं सव्वदुक्खपहीणमग्गं। (आव० श्रमणसूत्र ५ वीं पाटी)
(इदमेव निर्ग्रन्थ-प्रवचनं सत्यमनुत्तरं कैवलिकं प्रतिपूर्णं नैयायिकं संशुद्धं शल्यकर्त्तनं सिद्धिमार्गः मुक्तिमार्गः निर्याणमार्गः निर्वाणमार्गः अवितथम-विसंधि सर्वदुःखप्रहीणमार्गः ।)

: ६ :

आलोक

गौतम ने कहा—भगवन् ! वही सत्य है, वही असन्दिग्ध है; जो विजेता ने देखा है, कहा[1] है ।

भगवन् ! तूने कहा—जो असत्य है वह असंयम है, जो असंयम है, वही असत्य है। जो सत्य है, वह संयम है, जो संयम है, वही सत्य[2] है। जो संयम की उपासना करता है, वह स्वयं शिव और सुन्दर बन जाता है—विजातीय तत्त्व को खपा स्वस्थ या आत्मस्थ बनजाता[3] है। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन का सार है। मुझे निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा हुई है। मेरी प्रतीति और रुचि इससे जुड़ गई है। मैं इसका स्पर्श करूँगा, इसके आदेशों की पालना और अनुपालना करूंगा। मैं धन्य हूं, मुझे वीतराग का मार्ग मिला है।

१—तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं। (आचा० १।५।५।१६३)
(तदेव सत्यं निःशङ्कं यज् जिनेन प्रवेदितम्।)

२—जं संमतिपासहा तं मोणंति पासहा, जं मोणंति पासहा तं संमति पासहा। (आचा० १।५।३।१५६)
(यत् सम्यक् तत् मौनम्, यत् मौनं तत् सम्यक्।)

३—सच्चंमि धिइं कुव्वहा, एत्थो वरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ। (आचा० १।३।२।११३)
(सत्ये धृतिं कुरु, अत्रोपरतो मेधावी सर्वं पापकर्म क्षपयति।)

: ७ :

विजय का अधिकार

हिंसा पराजय का मूल[1] है.

अहिंसा को जाननेवाला ही विजेता के शासन में आसकता है.

असत्य अविश्वास का मूल[2] है.

सत्य को जाननेवाला ही विजेता के शासन में आसकता है.

चौर्य[3] भय और युद्ध का मूल[4] है.

अचौर्य[5] को जाननेवाला ही विजेता के शासन में आसकता है.

अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल[6] है.

ब्रह्मचर्य को जाननेवाला ही विजेता के शासन में आसकता है.

परिग्रह वैर-विरोध का मूल[7] है.

अपरिग्रह को जाननेवाला ही विजेता के शासन में आसकता है.

१—कम्म मूलं च जं छणं। (आचा० १।३।१।१११)

(कर्म मूलञ्च यत् क्षणम्।)

२—अविस्सासो य भूयाणं। (दश० ६।१३)

(अविश्वासश्च भूतानाम्।)

३—दूसरे के अधिकार का अपहरण।

४—हरदहमरणभयकलुसतासणपरसंतिगऽभेज्जलोभमूलं।

उप्पूरसमरसंगामडमरकलिकलहवेहकरणं। (प्रश्न० १।३।९)

५—स्वाधिकार-रमण।

६—मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं। (दश० ६।१७)

(मूलमेतदधर्मस्य महादोषसमुच्छ्रयम्।)

७—परिग्गहनिविट्ठाणं वेरं तेसिं पवड्ढइ। (सूत्र० १।९।३)

(परिग्रहनिविष्टानां वैरं तेषां प्रवर्धते।)

: ७ :

आलोक

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच महाव्रत हैं। इन्हें स्वीकार करनेवाला मुनि होता है। भगवान् ने अपने प्रवचन में गौतम को पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया[1]।

१—समणे भगवं महावीरे······गोयमाईणं······पंचमहव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवनिकायाइं आइक्खइ। (आचा० २।४।१०२८)

(श्रमणो भगवान् महावीरः······गौतमादिभ्यः······पञ्च महाव्रतानि सभावनानि षड्जीवनिकायान् आख्याति।)

तुलना—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। (पा० यो० २।३०,३१)

: ८ :

गहरी डुबकियां

ओ वन्दी ! तू पूछता है—पराजय क्या है ?
पराजय और कुछ नहीं,
विदेशी सत्ता के सामने तेरा आत्म-समर्पण जो है,
वही तेरी पराजय है.
विदेशी सेना तेरे देश में निरन्तर घुस जो रही है,
वही तेरी पराजय का हेतु है.
ये तेरे दोनों हाथ विदेशी शासन की नींव में अपना रक्त सींच रहे हैं,
यही तेरी परतन्त्रता है.
विदेशी शासन से मिली उपाधियों के आदर्श में जो तू अपनी झांकी लेरहा है,
यही तेरी परतन्त्रता का हेतु है.
इस विदेशी सेना ने तुझे एक ऐसे दुर्ग में वन्दी वना रखा है,
जिसके पांचों दरवाजों में कंटीले तारों का घना जाल विछा है.

: ८ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सम्वर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष—ये नव तत्त्व[1] हैं। जीव की पूर्ण शुद्ध दशा मोक्ष[2] है। सम्वर, निर्जरा उसके साधन हैं। आस्रव मोक्ष का वाधक है[3] है। जीव का प्रतिपक्षी अजीव है। पुण्य, पाप और बन्ध—ये उसके प्रकार हैं।

भगवान् ने यूं वद्ध जीव, बन्धन और उसके कारणों का मर्म समझाया।

१—नवसब्भावपयत्था जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो। (स्था० ९। ६६५)

(नव सद्भावपदार्थाः—जीवाः, अजीवाः, पुण्यम्, पापम्, आस्रवः, सम्वरः, निर्जरा, बन्धः मोक्षः।)

२—अणासवे झाण समाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे। (उ० ३२।१०९)

(अनास्रवो ध्यानसमाधियुक्तः, आयुःक्षये मोक्षमुपैति शुद्धः।)

३—जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।

जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी॥ (उत्त० २३।७१)

(या तु आस्राविणी नौका, न सा पारस्य गामिनी।

या निरास्राविणी नौका, सा तु पारस्य गामिनी॥)

: ९ :

आशीर्वाद

विजय का मूल श्रद्धा है.

सन्देहशील को शान्ति नहीं मिलती[१].

जिस श्रद्धा के साथ विजेता के शासन में आया है, उसे बढ़ा.

सन्देह का प्रवाह वहरहा है, उससे दूर रहना[२].

ओ विजय-पथ के यात्री ! तू आगे बढ़.

जानता देखता हुआ आगे बढ़.

विदेशी सेना को रोकता हुआ आगे बढ़.

कुचलता हुआ आगे बढ़.

तनुत्राण को सुदृढ़ किये हुए आगे बढ़.

स्वतन्त्रता का पथ प्रशस्त होगा[३].

ओ पारगामी ! समुद्र के उस पार चला[४] जा—

जहाँ सब कुछ तेरा ही तेरा है.

१—वितगिच्छा समावण्णेणं अप्पाणेणं णो लहइ समाधिं। (आचा० १५।५।१६२)

(विचिकित्सासमापन्न आत्मा नो लभते समाधिम्।)

२—जाए सद्धाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया, वियहित्तु विसोत्तियं। (आचा० १।२।३)

(यया श्रद्धया निष्क्रान्तः, तामेव अनुपालयेः, विहाय विस्रोतसिकाम्।)

३—नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य। खंतीए मुत्तीए, वड्ढमाणे भवाहि य॥

(उत्ता० २२।२६)

(ज्ञानेन दर्शनेन च, चारित्र्येण तपसा च। क्षान्त्या मुक्त्या वर्धमानो भव च॥)

४—संसारसागरं घोरं तर। (उत्ता० २२।३१)

: ९ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! सम्वर और निर्जरा—ये मोक्ष के साधन हैं। मोक्ष साध्य है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—ये चार मोक्ष के मार्ग[1] हैं।

श्रद्धा के अंकुर को पल्लवित करते हुए भगवान् बोले—गौतम ! सागरदत्त[2]-पुत्र को मयूरी के अण्डे के प्रति शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, भेद, द्वैध और कालुष्य उत्पन्न हुआ। इससे मयूरी का बच्चा होगा या नहीं होगा—यूं सोच उसे उठाने लगा, यावत् कान के पास हिलाने लगा। बार-बार ऐसा करने से वह अण्डा निर्जीव होगया। इसी प्रकार जो श्रमण दीक्षित होकर निर्ग्रन्थ-प्रवचन में सन्दिग्ध बनते हैं, वे संयम को निर्जीव बना देते हैं। जिनदत्त-पुत्र ने उसे निःशंक भाव से पाला। वह समयमर्यादानुसार मयूर हुआ। इसी प्रकार जो श्रमण दीक्षित होकर निर्ग्रन्थ-प्रवचन में निःशंक रहते हैं, वे सिद्धि के निकट पहुंचजाते हैं।

भगवान् ने कहा—गौतम ! जिनवाणी में सन्देह नहीं करना चाहिए। सन्देह मिथ्या-दृष्टि का हेतु है। निःसन्देह सम्यक्-दृष्टि का हेतु है। मति-दुर्बलता, योग्य आचार्य का अभाव, ग्रहण-शक्ति का अभाव और ज्ञानावरण का उदय—ये सन्देह होने के हेतु हैं। हेतु और दृष्टान्त के द्वारा बुद्धिगम्य न होने पर भी जिन-वाणी में सन्देह नहीं करना चाहिए।

(जो अनुपकारी पर उपकार करनेवाले, विजेता, राग द्वेष और मोहरहित हैं, वे अन्यथावादी नहीं होते।)

१—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ (उत्त० २।८२)
(ज्ञानञ्च दर्शनञ्चैव, चारित्रं च तपस्तथा।
एष मार्ग इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः ॥)

२—ज्ञाता० ३।

: १० :

विघ्न-वाधाओं को चीरकर

ओ यात्री ! ये विजेता के पद-चिह्न हैं.
चलने से पहले
आगे देख—
वह वनस्थली का झुरमुट.
फँस न जाना.
फँसनेवाला विजेता के पद-चिह्नों पर नहीं चल सकता.
पीछे देख—
वे लुटेरे आ रहे हैं.
घवड़ा न जाना.
घवड़ानेवाला विजेता के पद-चिह्नों पर नहीं चलसकता.
ऊपर देख—
ये बादल बरसने को खड़े हैं.
बौछारों से सिमट न जाना.
सिमटनेवाला विजेता के पद-चिह्नों पर नहीं चलसकता.
नीचे देख—
ये मालती के फूल बिछे हैं.
मीठी परिमल को पा छितर न जाना.
छितरनेवाला विजेता के पद-चिह्नों पर नहीं चलसकता.

: १० :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! वीर पुरुष संयम में उत्पन्न अरुचि और असंयम में उत्पन्न रुचि को सहन नहीं कर सकता। वह संयम से उदासीन नहीं होता। इसीलिए वह असंयम में आसक्त नहीं होता[1]।

उसे (१) भूख, (२) प्यास, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) डांस-मच्छर, (६) अचेल, (७) अरति, (८) वासना, (६) चर्या, (१०) निपद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश—गाली, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृण-स्पर्श, (१८) जल-स्नान. (१६) सत्कार-पुरस्कार, (२०) अज्ञान—ज्ञानाल्पता से उत्पन्न हीन भावना, (२१) प्रज्ञा—प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव से उत्पन्न हीन भावना, (२२) दर्शन—श्रद्धा[2]—ये परिपह—कष्ट सताते हैं किन्तु साधनाशील श्रमण इनसे पराजित नहीं होता[3]।

भोग-विलास, सुख-सुविधा की लालसा—ये उलझा देनेवाले कष्ट हैं।

१—नारइं सहइ वीरे। (आचा० १।२।६)

(नारतिं सहते वीरः।)

२—उत्त० २

३—जे भिक्खु न विहन्निजा, पुट्ठो केणइ कण्हुई। (उत्त० २।४६)

(यान् भिक्षुर्न विहन्येत, पृष्टः केनाऽपि कुत्र चित्।)

सम्मं सहमाणस्स·········णिज्जरा कज्जति। (स्था० ५।१।४०९)

(सम्यक् सहन्तः·········निर्जरा क्रियते।)

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः। (तत्त्वा० ९।८)

उत्तर[1] में देख—

वे चिकनी चट्टानें खड़ी हैं.

फिसल न जाना.

फिसलनेवाला विजेता के पद-चिह्नों पर नहीं चल सकता.

दक्षिण में देख—

वह निर्झर का कलरव हो रहा है.

वह न जाना.

प्रवाह में बहनेवाला विजेता के पद-चिह्नों पर नहीं चल सकता.

ओ यात्री! सावधान! ये विजेता के पद-चिह्न हैं.

१—वाम पार्श्व

भूख, प्यास, ठण्ड, गर्मी, क्षुद्र जन्तु, अचेलत्व, अरति, रोग, चर्या, निपद्या और शय्या—ये घबड़ाहट पैदा करनेवाले कष्ट हैं।

तिरस्कार—गाली, मार, वध—ये मुरझा देनेवाले कष्ट हैं।

अज्ञान और साक्षात् दर्शन का अभाव—ये हीन भावना उत्पन्न करनेवाले कष्ट हैं।

सत्कार-पुरस्कार—फुला देनेवाले कष्ट हैं।

सन्देह (अश्रद्धा)—प्रवाह में बहा देनेवाला कष्ट है।

: ११ :

पवन और प्रकाश

विजय आत्मा की चर्या है, आत्मा पुरुष नहीं है, स्त्री नहीं है.

विजय का द्वार दोनों के लिए खुला[1] है.

विजय आत्माकी चर्या है, आत्मा सवर्ण नहीं है, असवर्ण नहीं है.

विजय का द्वार दोनों के लिए खुला[2] है.

विजय आत्मा की चर्या है, आत्मा धनी नहीं है, गरीब नहीं है.

विजय का द्वार दोनों के लिए खुला[3] है.

विजय आत्मा की चर्या है, आत्मा ग्रामवासी नहीं है, अरण्यवासी नहीं है.

विजय का द्वार दोनों के लिए खुला[4] है.

विजय आत्मा की चर्या है, आत्मा अगृहवासी नहीं है, गृहवासी नहीं है.

विजय का द्वार दोनों के लिए खुला[5] है.

१—तित्थं पुण……समणा समणीओ सावया साविचाओ य। (भग० २०।८)
(तीर्थं पुनः……श्रमणाः श्रमण्यः श्रावकाः श्राविकाश्च ।)

२—सक्खं खु दीसइ तवो-विसेसो, न दीसइ जाइ-विसेस कोई। (उत्त० १२।३७)
(साक्षात् खलु दृश्यते तपोविशेषः, न दृश्यते जातिविशेषः कोऽपि ।)

३—जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ । (आचा० २।६।१०२)
(यथा पुण्यस्य कथ्यते, तथा तुच्छस्य कथ्यते ।
यथा तुच्छस्य कथ्यते, तथा पुण्यस्य कथ्यते ।)

४—गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह । (आचा० ८।१।१९७)
(ग्रामे वा अथवारण्ये, नैव ग्रामे नैवारण्ये धर्ममाजानीत ।)

५—भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं । (उत्त० ५।२२)
(भिक्षादो वा गृहस्थो वा, सुव्रतः क्रामति दिवम् ।)

: ११ :

आलोक

भगवान् ने कैवल्य-प्राप्ति के बाद दूसरी परिषद् में 'चार तीर्थ'—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका—का प्रवर्तन किया। भगवान् के 'समवसरण' का द्वार सभी के लिए खुला था। भगवान् ने अहिंसा-धर्म का निरूपण उन सबके लिए किया—जो आत्म-उपासना के लिए तत्पर थे या नहीं थे, जो उपासना-मार्ग सुनना चाहते थे या नहीं चाहते थे, जो शस्त्रीकरण से दूर थे या नहीं थे, जो परिग्रह की उपाधि से बंधे हुए थे या नहीं थे, जो पौद्गलिक संयोग में फँसे हुए थे या नहीं थे—और सबको धार्मिक जीवन बिताने के लिए प्रेरणा दी।

: १२ :

एक और सब

पराजय का कारण एक ही है.

विजय के कारण भी दो नहीं हैं.

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है.

जो सबको जानता है, वह एक को जानता[1] है.

जो अध्यात्म को जानता है, वह बाहर को जानता है.

जो बाहर को जानता है, वह अध्यात्म को जानता[2] है.

जो एक को जीतता है, वह सबको जीतता[3] है.

जो एक को जीतता है, वह पाँच को जीतता है.

जो पाँच को जीतता है, वह दश को जीतता है.

जो दश को जीतता है, वह सब को जीतता[4] है.

१—जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।
(आ० १।४।४।१२३)

(य एकं जानाति स सर्वं जानाति, यः सर्वं जानाति स एकं जानाति।)

२—जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ।
(आचा० १।१।७।५७)

(योऽध्यात्मं जानाति स बाह्यं जानाति, यो बाह्यं जानाति सोऽध्यात्मं जानाति।)

३—सव्वं अप्पे जिए जियं। (उत्त० मे।३६)

(सर्वमात्मनि जिते जितम्।)

४—एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।

दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं॥ (उत्त० २३।३६)

(एकस्मिन् जिते जिताः पञ्च, पञ्चसु जितेषु जिता दश।

दशधा तु जित्वा, सर्वशत्रून् जयाम्यहम्॥)

: १२ :

आलोक

तर्क-शास्त्र की भाषा में—जो एक द्रव्य को सर्वथा जान लेता है, वह सब द्रव्यों को जान लेता है या सब द्रव्यों को जाननेवाला ही एक द्रव्य को पूर्णरूपेण जान सकता है।

अध्यात्म की भाषा में—जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है।

साधना की भाषा में—जो एक मोह को जान लेता है, वह सब दोषों को जान लेता है।

राजनीति की भाषा में—जो एक नायक को जान लेता है, वह समूची प्रजा को जान लेता है या समूची प्रजा के हृदय को जाननेवाला ही नायक को जान सकता है। एक और अनेक दोनों आपस में गुंथे हुए हैं!

भगवान् ने कहा—गौतम! जो भेद ही भेद देखता है, वह मिथ्या-दृष्टि है।

जो अभेद ही अभेद देखता है, वह मिथ्या-दृष्टि है।

सम्यक्-दृष्टि वह है, जो भेद में अभेद और अभेद में भेद देखे।

मिथ्या-दर्शन प्रमाद है। जहाँ प्रमाद है, वहाँ भय है। जहाँ भय है, वहाँ शस्त्र है—हिंसा है।

सम्यक्-दर्शन अप्रमाद है। जहाँ अप्रमाद है, वहाँ अभय है। जहाँ अभय है, वहाँ अशस्त्र है—अहिंसा है। एक मन, चार कषाय और पांच इन्द्रियों को जीतनेवाला सर्वथा अपराजित और अजात-शत्रु होता है।

ती रा विश्राम

(दृष्टि-लाभ)

दंसणसंपन्नयाए......परं न विज्झायइ ।
(उत्त० २९।६०)

दर्शन-सम्पदा से अमिट ज्योति का लाभ होता है ।

: १ :

विशाल दृष्टिकोण

महासिन्धु की ऊर्मियां
उठती भी हैं, गिरती भी हैं.
मिटनेवाले और अमिट के बीच
कोई भेद-रेखा नहीं है.
ये एक ही पेड़ की दो शाखाएँ—
एक स्थिर खड़ी है,
दूसरी पवन के सहारे
झुकती भी है,
उठती भी है.
मि नेवाला अमिट भी है.
अमिट मिटता भी है.
कौन अमिट है, कौन मिटनेवाला ?
यह दीप-शिखा
सृष्टि और प्रलय की प्रतिमूर्ति है.
रहनेवाले
सदा रहे हैं और रहेंगे.
रहनेवालों में एक
नहीं रहनेवाला भी है.

: १ :

आलोक

गौतम ने पूछा—भगवन् ! तत्त्व क्या है ?

भगवान्—गौतम ! पदार्थ उत्पन्न होते हैं ।

गौतम—भगवन् ! तत्त्व क्या है ?

भगवान्—गौतम ! पदार्थ नष्ट होते हैं ।

वह
जलता भी है, बुझता भी है.
सिमटता भी है, फैलता भी है.
दूर भी है सिमटन और प्रसरण से.
पानी का बुलबुला
बनता भी है,
मिटता भी है,
रहता[1] भी है.

१—मायाणुओगे—उपन्ने वा विगए वा धुए वा। (स्था० १०।७२७)

(मातृकानुयोगः—उत्पन्नो वा विगतो वा ध्रुवो वा।)

इह मातृकेव मातृका प्रवचनपुरुषस्योत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणा पदत्रयी।

(स्था० वृत्ति)

से णिच्चणिच्चेहिं समिक्ख पन्ने, दीवे व धम्मं समियं उदाहु। (सूत्र० ६।४)

(स नित्यानित्यैः समीक्ष्य प्राज्ञः, दीप इव धर्मं समितमुदाहृतवान्।)

गौतम—भगवन् ! तत्त्व क्या है ?

भगवान्—गौतम ! पदार्थ रहते हैं।

इस नित्यानित्यात्मक अनेकान्त दृष्टिकोण के आधार पर गौतम को विश्व-दर्शन का दृष्टिकोण मिला।

: २ :

मूल्यांकन

इस मिट्टी के वर्तन में
घी तूने उंडेला.
बाती सजाई.
पर चिनगारी तेरे पास कहां है ?
दियासलाई मत जला.
लकड़ियों को मत घिस.
वह सूरज रहा बादल की ओट में.
उसकी एक किरण ले आ.
याद रख.
इस कदम का अंधेरा क्षितिज के उस पार उजेला नहीं बनेगा.

१—अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य। (उत्त० १।१५)

(आत्मा दान्तः सुखी भवति, अस्मिंल्लोके परत्र च।)

: २ :

आलोक

भगवान् ने कहा – गौतम! धर्म पर-लोक सुधारने के लिए है— यह सच है, किन्तु अधूरा। धर्म से वर्तमान जीवन भी सुधरना चाहिए। वह शान्त और पवित्र होना चाहिए। अपवित्र आत्मा में धर्म कहाँ से ठहरेगा[1]? उसका आलय पवित्र जीवन ही है। जिसे धर्म-आराधना के द्वारा यहाँ शान्ति नहीं मिली, उसे आगे कैसे मिलेगी? जिसने धर्म को आराधा, उसने दोनों लोक आराध लिये[2]। वर्तमान जीवन में अंधेरा ही अंधेरा देखनेवाले केवल भावी जीवन के लिये धर्म करते हैं, वे भूले हुए हैं।

१—धम्मो सुद्धस्स चिठ्ठइ। (उत्त० ३।१२)

(धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति)

२—तेहिं आराहिया दुवे लोगे। (उत्त० ८।२०)

(तैराराधितौ द्वौ लोकौ।)

: ३ :

आलोक आलोक के लिए

ओ द्रष्टा !
इस रंगीन चश्मे को उतार फेंक.
किसने कहा—आकाश नीला है ?
जो नीला है, वह आकाश नहीं है.
वह ऐसा और वैसा नहीं है.
धूप और छांह की रेखा इस सूरज ने खींच रखी है.
यह नक्षत्र-माला इसी दुनियां का दैत्य है.
वहां दिन और रात का झमेला नहीं है.

× × ×

नटराज ! ऊपर को देख.
नीचे गढ़ा है.
उतार-चढ़ाव तेरी विवशता है.
नर्तन के साथ पतन की कड़ी जुड़ी हुई नहीं है.

× × ×

: २ :

आलोक

भगवान् ने कहा--गौतम ! धर्म ऐहिक या पारलौकिक वासनाओं की पूर्ति के लिए नहीं है। मेरी आज्ञा यही है कि इस जीवन के पौद्-गलिक सुखों के लिए धर्म मत कर, अगले जीवन के पौद्गलिक सुखों के लिए धर्म मत कर, पूजा-प्रतिष्ठा के लिए धर्म मत कर।

ओ भोले !
की . के लिए पानी मत वहा.
सांस मौत के लिए नहीं है.
लौ काजल के लिए नहीं है.
वीज भूसे के लिए नहीं है.
वीज के साथ भूसा आता है.
लौ के साथ काजल.
सांस के साथ मौत.
किन्तु
सांस जीने को ले.
लौ आलोक के लिए जला.
वीज अनाज के लिए बो[1].

१—नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्ति-वन्न-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थनिज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। (दश० ९।४)
(नो इह लोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत, नो परलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत, नो कीर्ति-वर्ण-शब्द-श्लोकार्थेभ्यः तपोऽधितिष्ठेत, नान्यत्र निर्जरार्थेभ्यः तपोऽधितिष्ठेत)

केवल आत्मा की पवित्रता के लिए धर्म कर। धर्म के आनुषङ्गिक फल के रूप में सुख-सुविधाएं मिलें, उन्हें विवशता मान। उन्हें बन्धन मानते हुए उनसे मुक्ति पाने का प्रयत्न कर।

: ४ :

भाग्य-विधाता[1]

मैंने सुना है, अनुभव किया है—
स्वतन्त्रता की कुञ्जी स्वयं मैं हूं.
मैंने सुना है, अनुभव किया है—
फूलों की सुगन्ध और कांटों की चुभन स्वयं मैं हूं.
मैंने सुना है, अनुभव किया है—
प्रलय और सृजन स्वयं मैं हूं.
मैंने सुना है, अनुभव किया है—
सागर की बूँद और सागर स्वयं मैं हूं.

१—बंधपमुक्खो अज्झत्थेव। (आचा० १।५।२।१५१)
(बन्धप्रमोक्षोऽध्यात्म एव।)
सगडब्भि। (आचा० १।४।३।१२२)
(स्वकृतभिद्)

: ६ :

आलोक

आर्यों! आओ! भगवान् ने गौतम आदि श्रमणों को आमन्त्रित किया।

भगवान् ने पूछा—आयुष्मान् श्रमणो! जीव किससे डरते हैं?

गौतम आदि श्रमण निकट आये, वन्दना की, नमस्कार किया, विनम्र-भाव से बोले—भगवन्! हम नहीं जानते, इस प्रश्न का क्या तात्पर्य है? देवानुप्रिय को कष्ट न हो तो भगवान् कहें। हम भगवान् के पास से यह जानने को उत्सुक हैं।

भगवान् बोले—आर्यों! जीव दु.ख से डरते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! दु.ख का कर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान्—गौतम! दुःख का कर्ता जीव और उसका कारण प्रमाद[1] है।

गौतम—भगवन्! दुःख का अन्तकर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान्—गौतम! दुःख का अन्तकर्ता जीव और उसका कारण अप्रमाद[2] है।

१—प्रमाद के ८ प्रकार हैं—(१) अज्ञान, (२) संशय, (३) मिथ्या-ज्ञान, (४) राग, (५) द्वेष, (६) मति-भ्रंश, (७) धर्म के प्रति अनादर, (८) मन, वाणी और शरीर का दुष्प्रयोग।

२—अज्जोति! ...... किं भया पाणा? ...... दुक्खभया पाणा ...... दुक्खे केण कडे? जीवेणं कडे पमादेण, दुक्खे कहं वेइज्जति? अप्पमाएणं। (स्था० १।३।२।१६६)
(आर्य इति! किंभयाः प्राणाः?......दुखभयाः प्राणाः......दुःखं केन कृतम्? जीवेन कृतं प्रमादेन, दुःखं कथं वेद्यते? अप्रमादेन।)

: ५ :

लौहावरण से परे

मैं कमरे के भीतर[1] हूं.
यहां अन्धेरे की निरंकुशता और उजेले का अंकुश नहीं है.
और नहीं है—
अकेलेपन की निडरता और ताराओं का संकोच.
किंवाड़ खुले हों या बन्द,
कोई आनेवाला नहीं है.
नहीं है कोई लानेवाला.
दोनों चले गये अपने देश.
तेरे घर की उलटी रीत है.
मेरे कमरे में घुसा कि घिर गया—
डर से, लाज से.
वाहर खड़े लोगों ने पुकारा.
वह भाग गया.
अन्धेरे की दुनियां से,
छुईमुई की दुनियां से,
मैं आगया अपने घर में.

१—दिया वा राओ वा एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा।
(दश० ४)
(दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद् वा।)
तम्हातिविज्जो परमं ति णच्चा आयंकदंसो न करेइ पावं।(आचा० १।३।२।७)
(तस्मात् अतिविद्यः परममिति ज्ञात्वा आतङ्कदर्शी न करोति पापम्।)
अन्नमन्नवितिगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावं कम्मं, किं तत्थ मुणी कारणं सिया। (आचा० १।३।३।११६)
(अन्योन्यविचिकित्सया प्रत्युपेक्ष्य न करोति पापं कर्म, किं तत्र मुनिः कारणं स्यात्।)
नारभे कंचणं सव्वलोए एगप्पमुहे (आचा० १।५।३।१५५)
(नारभेत कंचन सर्वलोके एकप्रमुखः।)

: ५ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! जो व्यक्ति दिनमें, परिषद्‌में, जागृत-दशा में या दूसरों के संकोचवश पाप से बचते हैं, वे बहिर्दृष्टि हैं—अन-आध्यात्मिक हैं। उनमें अभी अध्यात्म-चेतना का जागरण नहीं हुआ है।

जो व्यक्ति दिन और रात, विजन और परिषद्, सुप्ति और जागरण में अपने आत्म-पतन के भय से, किसी बाहरी संकोच या भय से नहीं, परम-आत्मा के सान्निध्य में रहते हैं—वे आध्यात्मिक हैं।

उन्हीं में परम-आत्मा से सम्बन्ध बनाये रखने के सामर्थ्य का विकास होता है। इसके चरम शिखर पर पहुंच, वे स्वयं परम-आत्मा बनजाते हैं।

चौथा विश्रा

(समाधि-लाभ)

णिव्वाणमेयं कसिणं समाहि । (सूत्र० १।१०।२२)
पूर्ण समाधि ही निर्वाण है ।

: १ :

[1]सत्यं शिवं सुन्दरम्

पुरुष ! तू खिड़कियों को मत खोल
वाहर को मत झांक.
देख—विजातीय-तत्त्व का स्रोत आ रहा है.
ऊपर से आ रहा है.
नीचे से आ रहा है.
वीच में से आ रहा है.
यह वन्धन है.
वन्धन के कारण—
ऊपर भी हैं.
नीचे भी हैं.
वीच में भी हैं[2].
तू इन खिड़कियों को वन्द कर डाल.
वाहर को मत झांक[3].
जो शिव और सुन्दर है, वह वाहर नहीं है[4].

१—तं सच्चं भगवं। (प्रश्न० २ संवरद्वार)
(तत् सत्यं भगवान्।)
खेमं च सिवं अणुत्तरं। (उत्त० १०।३५)
(क्षेमञ्च शिवमनुत्तरम्।)
२—उड्ढं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया।
ए ए सोया वियक्खाया, जेहिं संगति पासहा ॥ (आचा० ५।६।१७०)
(ऊर्ध्वं स्रोतः अधः स्रोतः, तिर्यक् स्रोतः व्याख्यातम्।
एतानि स्रोतांसि व्याख्यातानि, यैः सङ्गं पश्यत ॥)
३—आवट्टं तु पेहाए, इत्थ विरमिज्ज वेयवी। (आचा० १।५।६।१७०)
(आवर्तन्तु प्रेक्ष्य, अत्र विरमेद् वेदविद्।)
४—अकम्मा जाणइ पासइ। (आचा० १।५।६।१७०)
(अकर्मा जानाति पश्यति।)

: १ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! दुःख के अग्र और मूल को उखाड़ फेंक[1]। 'जो व्यक्ति दुःख का उपचार करते हैं किन्तु उसके मूल (कारण) का उपचार नहीं करते, वे अदीर्घदर्शी हैं।

दु:ख का मूल कर्म (आत्मा के चिपका हुआ विजातीय-द्रव्य, पुद्गल-द्रव्य) है। आत्मा बुरा और भला जो कहलाता है, उसका हेतु कर्म ही है। जितना व्यपदेश या व्यवहार है, उसका हेतु कर्म ही है। जितनी उपाधियाँ हैं, उन सब का हेतु कर्म[2] ही है। कर्म का मूल आस्रव है।

१—अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे। (आचा० १।३।२।७)

(अग्रञ्च मूलञ्च विविङ्क्ष्व धीर !)

२—अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ। (आचा० १।३।१।११०)

(अकर्मणो व्यवहारो न विद्यते, कर्मणा उपाधिर्जायते।)

: २ :

विदेशी सत्ता का प्रवेश

तू ही बता—विदेशी सत्ता को तेरे देश में लानेवाला कौन[1] है ?
विजातीय-तत्त्वों का आयात तेरे सिवा कौन करता है ?
इस अभिनिवेश का निर्माता तू ही तो है.
दुर्ग का सिंह-द्वार किसने खोला ?
तू ही तो मदिरा का मुख्य विक्रेता रहा है.
उस सतरंगी इन्द्र-धनु के सामने तेरे सिवा कौन शिर झुकाता था ?
तू ही बता—आत्म-समर्पण की रश्म किसने अदा की ?

१—पंच आसवदारा……मिच्छत्तं, अविरई, पमाया, कसाया, जोगो ।
(सम० समवाय ५)
(पञ्च आस्रवद्वाराणि……मिथ्यात्वम्, अविरतिः, प्रमादाः, कषायाः, योगः ।)

: २ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम! यह जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति) इन पाँच आस्रवों के द्वारा विजातीय-तत्त्व का आकर्षण करता है। यह जीव अपने हाथों ही अपने बन्धन का जाल बुनता है। जब तक आस्रव का संवरण नहीं होता, तब तक विजातीय-तत्त्व का प्रवेश-द्वार खुला ही रहता है।

: ३ :

अपने घर में आ

प्रतिक्रमण कर.
लौट आ.
यह है तेरा घर.
लौट आ.
यह है तेरा सिंहासन.
लौट आ.

× × ×

तू क्यों गया ?
कब गया ?
कैसे गया ?
इसका पता नहीं है.
आदि नहीं है.
तू निर्वासित ही रहा.
परिव्राजक ही रहा.
विश्रान्ति-गृहों में ही रहा.
कहीं युगों तक.
कहीं ससीम.
कहीं असीम.
तू ने तेरा घर कभी नहीं देखा.
लौट आ.

× × ×

: २ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! यह जीव अनादि-काल से संसार में भ्रमण कर रहा है।

एकेन्द्रिय—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति; द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय—इन पाँच जातियों में वह प्रमाद के कारण जन्म लेता और मरता रहा[1] है। यह प्रमाद पर-स्थान है।

१—उत्त० १०।५-१५

तू ने नहीं देखा तेरा सिंहासन.
लौट आ.
प्रतिक्रमण कर.
लौट आ.
प्रतिस्रोतगामी भव.
लौट आ.
प्रवाह के पीछे मत चल.
लौट आ.
बहुमत सदा
अनुस्रोतगामी होता है.
वह क्षणिक सुखवाद है.
मुड़.
लक्ष्य को सम्हाल.
लौट आ.
तू होनहार है.
प्रतिक्रमण कर.
लौट आ.

तू अप्रमादी वन स्व-स्थान में आ। वाहरी विपयों से हटकर आत्मा में लीन वन। स्व-स्थान यही है।

पर-स्थान से लौट स्व-स्थान में आना यही प्रतिक्रमण है[1]।

गौतम ने पूछा—भगवन्! प्रतिक्रमण से क्या लाभ होता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! प्रतिक्रमण से व्रत के छेदों का निरोध होता है। चरित्र की अशुद्धियां मिट जाती हैं। प्रतिक्रमण करनेवाला अष्ट-प्रवचन-माता—ईर्या, भापा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग, इन पांच सम्यक् प्रवृत्तियों (समितियों) तथा मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति—इन तीन गुप्तियों के प्रति सावधान होकर निर्मल मन वाला हो जाता[2] है।

१—स्वस्थानात् यत् पर-स्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

२—उत्त० २९।११

: ९ :

अकेलापन

निर्-द्वन्द्व कहाँ है ?
भाषा स्रोत है.
इस बोलचाल की दुनियां में असंग कहाँ है ?
आहार स्रोत है.
इस लेन-देन की दुनियां में निर्लेप कहाँ है ?
मन स्रोत है.
इन चिन्तन की दुनियां में आलोक कहाँ है ?
देह स्रोत है.
इस पिंजड़े की दुनियां में मुक्ति कहाँ है ?
सांस स्रोत है.
इस स्पन्दन की दुनियां में अकेलापन कहाँ है ?
गति स्रोत है.
इस यातायात की दुनियां में निर्-द्वन्द्व कहाँ है ?
ओ विजेता ! तेरे सैनिक के लिए रक्षा-पंक्ति कहाँ है ?

: ४ :

आलोक

असंयम से विषय का संग, संग से लेप, लेप से अज्ञान, अज्ञान से वन्धन, वन्धनसे द्वन्द्व और द्वन्द्व से यातायात—संसार-भ्रमण होता है।

भगवान् के पास यह सुन गौतम ने पूछा—भगवन्! मैं कैसे चलूँ? खड़ा रहूं? वैठूं? सोऊँ? खाऊँ? बोलूँ? जिससे कि मुझे वन्धन न हो[1]?

जन-सम्पर्क से वाणी, वाणी से मन की चंचलता बढ़ती है। इसीलिए भगवान् ने विविक्त वास या एकत्व का उपदेश दिया[2]।

१—कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सये।
कहं भुंजंतो भासंतो, पाव कम्मं न बंधइ॥ (दश० ४।७)
(कथं चरेत्? कथं तिष्ठेत्? कथमासीत? शयीत?।
कथं भुञ्जानो भावमाणः पाप-कर्म न बध्नाति॥)

२—जनेभ्यो वाक् ततः स्पंदो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात् संसर्गं जनै-र्योगी ततस्त्यजेत्॥ (समा० ७२)

: ५ :

रंगमंच

यह मदिरा का देश है.
यहाँ सुहाग नहीं मिटता.
कुंकुम का टीका
सिन्दूर का बिन्दु
कभी नहीं धुलता.
इस मादकता की भूमि में
उन्माद अठखेलियाँ करता है.
नित बरसा करते हैं
आनन्द और रंग.
इस सुनहली प्याली की
घूंट भर काफी है.
फिर जीवन भर आराम.
'थाक' आती ही नहीं.

× × ×

वे बेचारे दूरदर्शी
इस प्याली से परहेज करने लगे हैं.
पीते-पीते युग बीत चले.
अब उनकी आँखें खुली हैं.
उनकी आँखें बरसा देंगी—
मादकता
मिठास.
देखेंगे—
वे प्याली को ढोल कैसे जीते हैं ?

× × × ×

: ५ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! जीव में विकार पैदा करनेवाले परमाणु मोह कहलाते हैं। दृष्टि-विकार उत्पन्न करनेवाले परमाणु दर्शन-मोह हैं।

उनके तीन पुञ्ज हैं :—

(१) मादक, (२) अर्ध-मादक, (३) अमादक।

मादक-पुञ्ज के उदयकाल में विपरीत-दृष्टि, अर्ध-मादक-पुञ्ज के उदयकाल में सन्दिग्ध-दृष्टि, अमादक पुञ्ज के उदयकाल में प्रतिपाति-क्षायोपशमिक-सम्यक्-दृष्टि, तीनों पुञ्जों के पूर्ण उपशमन-काल में प्रतिपाति-औपशमिक-सम्यक्-दृष्टि, तीनों पुञ्जों के पूर्ण-वियोग-काल में अप्रतिपाति क्षायिक-सम्यक्-दृष्टि होती है।

चारित्र-विकार उत्पन्न करनेवाले परमाणु चारित्र-मोह कहलाते हैं। उनके दो विभाग हैं—कषाय और नोकषाय—कषाय को उत्तेजित करनेवाले परमाणु।

कषाय के चार वर्ग हैं :—

अनन्तानुबन्धी-क्रोध—पत्थर की रेखा (स्थिरतम)।

अनन्तानुबन्धी-मान—पत्थर का खम्भा (दृढ़तम)।

अनन्तानुबन्धी-माया—बाँस की जड़ (वक्रतम)।

अनन्तानुबन्धी-लोभ—कृमि-रेशम (गाढ़तम-रंग)।

इनका प्रभुत्व दर्शन-मोह के परमाणुओं के साथ जुड़ा हुआ है। इनके उदयकाल में सम्यक्-दृष्टि प्राप्त नहीं होती। यह मिथ्यात्व-आस्रव की भूमिका है। यह सम्यक्-दृष्टि की बाधक है। इसके अधिकारी मिथ्या-दृष्टि और सन्दिग्ध-दृष्टि हैं। यहाँ देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति नहीं होती। इसे पार करनेवाला सम्यक्-दृष्टि होता है।

वे रहे कायर कहीं के.
प्याली से
घबड़ाने लगे हैं.
पता नहीं
थाक कैसे उतरेगी ?
प्राकृतिक चिकित्सा के
फन्दे में फँसनेवाले ये
मिरच मसालों से भी परहेज करने लगे हैं.
इनका स्वास्थ्य टिका रहेगा ?

× × × ×

वे पलायनवादी
इस देश से भाग चले,
उन्हें वहाँ मिलेगा आनन्द ?
वह रूखा-सूखा जंगली देश
उन्हें कर देगा सरसब्ज ?
दुनियां में कितना अंधेरा है.
कृतज्ञता मानो उठ ही गई.
भलाई ने जैसे आसन बिछाया ही न हो.
मादकता की गोद में पले-पुसे
मातृभूमि को छोड़ भाग उठे.
उन्हें मिलेगा वहाँ आराम ?

× × × ×

यह अपराध है.
सबसे बड़े अपराधी वे अगली पंक्तिवाले हैं.

अप्रत्याख्यान-क्रोध—मिट्टी की रेखा (स्थिरतर)।

अप्रत्याख्यान-मान—हाड़ का खम्भा (दृढ़तर)।

अप्रत्याख्यान-माया—मेंढ़े का सींग (वक्रतर)।

अप्रत्याख्यान-लोभ—कीचड़ (गाढ़तर-रंग)।

इनके उदयकाल में चारित्र को विकृत करनेवाले परमाणुओं का प्रवेश-निरोध (संवर) नहीं होता, यह अव्रत-आस्रव की भूमिका है। यह अणुव्रती जीवन की वाधक है। इसके अधिकारी सम्यक्-दृष्टि हैं। यहाँ देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति होती है। इसे पार करनेवाला अणुव्रती होता है।

प्रत्याख्यान-क्रोध—धूलि-रेखा (स्थिर)।

प्रत्याख्यान-मान—काठ का खम्भा (दृढ़)।

प्रत्याख्यान-माया—चलते वैल की मूत्रधारा (वक्र)।

प्रत्याख्यान-लोभ—खञ्जन (गाढ़-रंग)।

इनके उदयकाल में चारित्र-विकारक परमाणुओं का पूर्णतः निरोध (संवर) नहीं होता। यह अपूर्ण-अव्रत-आस्रव की भूमिका है। यह महाव्रती जीवन की वाधक है। इसके अधिकारी अणुव्रती होते हैं। यहाँ आत्म-रमण की वृत्ति का आरम्भिक अभ्यास होने लगता है। इसे पार करनेवाले महाव्रती वनते हैं।

उन्हीं ने यह द्वार खोला.
मार्ग निकाला.
वे तुले हुए हैं
मदिरा का नाम मिटाने पर.
खेद !
इसने उन्हें कितना बढ़ाया था.
उनकी विद्रोही वृत्ति सदा याद रहेगी.

× × × ×

वे अपनी सीमा पार कर गये.
वे प्रवासी हैं.
मदिरा-देश के वासी
वहाँ नहीं जाते.
वह अन्धों और बहरों का देश है[1]
वहाँ फूल नहीं हैं.
वह धूलि का प्रदेश है.
आलिंगन की परम्परा से सूना
वह जंगली देश
कांटों से भरा है.
ये पत्थरदिल पसीजनेवाले नहीं हैं.
ये नहीं रुकेंगे.
मादक दुनियां में रहनेवाले साथियो !
बस, यहीं रुक जाओ.

१—आत्मप्रवृत्तावतिजागरूकः, परप्रवृत्तौ बधिरान्धमूकः ।
सदाचिदानन्दपदोपभोगी, लोकोत्तरं साम्यमुपैति योगी ॥ (अध्या० ४।२)

संज्वलन-क्रोध—जल-रेखा (अस्थिर—तात्कालिक)।

संज्वलन-मान—लता का खम्भा (लचीला)।

संज्वलन-माया—छिलते बांसकी छाल (स्वल्पतम-चक्र)।

संज्वलन-लोभ—हल्दी का रंग (तत्काल उड़नेवाला रंग)।

इनके उदयकाल में चारित्र-विकारक परमाणुओं का अस्तित्व निर्मूल नहीं होता। यह प्रारम्भ में प्रमाद और बाद में कषाय-आस्रव की भूमिका है। यह वीतराग-चारित्र की बाधक है। इसके अधिकारी सराग-संयमी होते हैं। यहां आत्म-रमण की प्रौढ़ता आजाती है। इसे पार करनेवाले वीतराग बनते हैं। वीतराग के इन्द्रिय और मन के सारे विकार निर्मूल हो जाते हैं फिर मोह के परमाणु उन्हें छू भी नहीं सकते[1]।

१—प्रज्ञा० पद २३

: ६ :

द्वन्द्व से निर्द्वन्द्व की ओर

यह मथनी है[1].
दूध कहां है ?
यह मथती रही है.
यह रहा नवनीत, यह रही छाछ.
मन्थन की दुनियां में द्वन्द्व नहीं है.

× × ×

यह आगी है.
मिश्रण की वात छोड़.
यह जलाती रही है.
यह रहा सोना, यह रही मिट्टी.
ताप की दुनियां में द्वन्द्व नहीं है.

× × ×

यह कोल्हू है.
यहां तिल नहीं होते.
यह पेरता रहा है.
यह रहा तेल, यह रही खल.
पीड़ा की दुनियां में द्वन्द्व नहीं है.

× × ×

यह पवन है.
चोले को मत याद कर.
यह फटकता रहा है.
यह रहा अनाज, यह रहा भूसा.
पवित्रता की दुनियां में द्वन्द्व नहीं है.

१—दुहओ छित्ता नियाइ। (आचा० १।७।३।२०६)
(द्वन्द्वं छित्त्वा निर्याति—बहुरहमेकः स्याम्।)

: ६ :

आलोक

मन्थन से ताप, ताप से कष्ट और कष्ट-सहन से पवित्रता आती है। जहां पवित्रता है, वहां द्वन्द्व नहीं है। भगवान् ने कहा—गौतम ! संयमपूर्वक जो चलता, खड़ा रहता, बैठता, सोता, खाता और बोलता है, उसके पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता[1]। प्रमाद ही कर्म है। अप्रमाद कर्म नहीं है। अप्रमाद-दशा में जीवन के निर्वाह मात्र की क्रियाएँ जो होती हैं, वे संयम-विकास में बाधक नहीं बनतीं[2]। वे शुभ-योग हैं। उनसे पूर्वार्जित द्वन्द्व का विलय होता है।

१—जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सये।

जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई। (दश० ४)

(यतं चरेत् यतं तिष्ठेत्, यतमासीत, यतं शयीत।

यतं भुञ्जानो भाषमाणः, पापकर्म न बध्नाति ॥)

२—सूत्र० वीर्य-अध्ययन

: ७ :

वायु-मण्डल से परे

ओ यात्री ! पराजय का प्रतिकार पराजय नहीं है.

पराजय का अन्त विजय से होगा.

पराजय की ओर जानेवाला विजेता की रक्षा-पंक्ति को नहीं देख सकता[1].

तू नहीं जानता—पवन का अस्त्र पवन नहीं है.

पवन का अस्त्र कुम्भक है[2].

पवन को पीनेवाला विजेता की रक्षा-पंक्ति को नहीं देख सकता.

आगे बढ़.

विजेता की रक्षा-पंक्ति वहां है,

जहां पवन नहीं है[3].

१—न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा । (सूत्र० १२।१५)
(न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बालाः,
अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः ।)

२—पंच संवरदारा…सम्मतं विरती अपमाओ अकसातित्तमजोगित्तं ।
(स्था० ५।२।४१)
(पञ्च संवरद्वाराणि…सम्यक्त्वम्, विरतिः, अप्रमादः, अकषायित्वम्, अयोगित्वम् ।)

३—मणजोगं निरुंभइ, वइजोगं निरुंभइ ।
काय-जोगं निरुंभइ, आणपाणनिरोहं करेइ । (उत्त० २९।७२)
(मनोयोगं निरूणद्धि (मनोयोगं निरुध्य), वाग्योगं निरुणद्धि, काययोगं निरुणद्धि, आनापाननिरोधं करोति ।)

: ७ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम! कर्म से कर्म का नाश नहीं होता, कर्म का नाश अकर्म से होता है। जहां पवन—श्वास-उछ्वास है, वहां मन है। जहां मन है, वहां वाणी है। जहां वाणी है, वहां शरीर है। जहां शरीर है, वहां कर्म है। जहां कर्म है, वहां जन्म-मरणका प्रवाह है।

श्वास का निरोध तेरहवें गुण-स्थान में होता है। चवदहवें गुण-स्थान में पूर्ण सम्वर होता है। वहां कर्म-पुद्गल—विजातीय-तत्त्व का प्रवेश नहीं होता।

: ८ :

रूढ़िवाद की अन्त्येष्टि

ओ यात्री ! देख—वह रहा दिशासूचक यंत्र.
यह विजेता का पहला शिविर है.
वहां विजेता के सैनिक को दिशा का निर्देशन मिलता है.
वहां विजेता की मजबूत रक्षा–पंक्ति है.
रूढ़िवादी उसे तोड़, आगे नहीं जा सकते.
प्रतिगामी उसे तोड़, आगे नहीं जा सकते.
डावांडोल उसे तोड़, आगे नहीं जा सकते.

: ८ :

आलोक

भगवान् ने कहा— गौतम ! साधना का पहला सोपान सम्यक्-दर्शन है। मिथ्या-दर्शन कर्म का स्रोत है।

सम्यक्-दृष्टि के मिथ्या-दर्शन-हेतुक-कर्म का बन्ध नहीं होता। जो मिथ्या-दर्शन में रूढ़ हैं—मिथ्यादृष्टि हैं, उनके मिथ्या-दर्शन-हेतुक-कर्म का निरन्तर बन्ध होता है। जो सम्यक्-दर्शन से गिरनेवाले हैं, वे विकासशील नहीं हैं। वे मिथ्या-दर्शन-हेतुक-कर्म-बन्ध के निकट जा रहे हैं। जो संदेहशील हैं, वे भी मिथ्या-दर्शन-हेतुक-कर्म-बन्ध में फँसे हुए हैं।

: ९ :

उच्छृङ्खलता से परे

आगे देख—
वह पंचरंगा झंडा लहरा रहा है.
वह विजेता का दूसरा शिविर है.
वह व्यूह-रचना की शिक्षा का मुख्य केन्द्र है.
देख—
वे बालमन्दिर के शिक्षार्थी
महाविद्यालय के स्नातकों को सम्मान दे रहे हैं.

: ९ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! मैंने दो प्रकार का धर्म कहा है[1]—

(१) अगार धर्म (२) अणगार धर्म ।

गृहवासी के लिए मैंने बारह व्रत बतलाये हैं—

(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अचौर्य, (४) स्वदार-सन्तोष, (५) इच्छा-परिमाण, (६) दिक्-परिमाण, (७) उपभोग-परिभोग-परिमाण, (८) अनर्थ-दण्ड-विरति, (९) सामायिक—मुहूर्त्त तक हिंसा आदि का त्याग, (१०) देशावकाशिक—स्वल्प-समय के लिए दोष-त्याग, (११) पौषध—उपवासपूर्वक साधु-चर्या का अभ्यास और (१२) श्रमण को संविभाग-दान ।

गृह-त्यागी श्रमण के लिए मैंने पांच महाव्रत—

(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अचौर्य, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह बतलाये हैं ।

श्रमण असंयम से खिचनेवाले विजातीय-द्रव्य-कर्म-पुद्गलों का आकर्षण नहीं करता ।

श्रमण का उपासक जितना संयम करता है, उतनी सीमा तक विजातीय-तत्त्व के आकर्षण से विलग होता है ।

१—अगारधम्मं, अणगारधम्मं च । (औप० धर्म देशना अधिकार)

(अगारधर्मः, अनगारधर्मश्च ।)

: १० :

नींद से विदा

ओह ! यह विजेता की तीसरी रक्षा-पंक्ति है.
यहां रहनेवाले कभी नहीं सोते.
नींद ! अब तुम मुझे नहीं सता सकोगी.
हाला की प्यालियों को बहुत पीछे छोड़ आया हूं.
सरिताएँ यहां हैं ही नहीं.
संध्या का राग फीका पड़ चुका है.
जाल मैंने पहले ही काट डाला.
उन्मेष ! मेरा साथ दो.
मैं विजेता के जागरण-केन्द्र में आगया हूं.

: १० :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! जो अमुनि (असंयमी) हैं, वे सदा सोये हुए हैं। जो मुनि (संयमी) हैं, वे सदा जागते[1] हैं। यह सतत शयन और सतत-जागरण की भाषा अलौकिक है। असंयम नींद है और संयम जागरण। असंयमी अपनी हिंसा करता है, दूसरों का वध करता है, इसलिए वह सोया हुआ है। संयमी किसी की भी हिंसा नहीं करता, इसलिए वह अप्रमत्त है—सदा जागरूक है।

प्रमाद के छव प्रकार हैं—(१) मद्य, (२) निद्रा, (३) विषय, (४) कषाय, (५) द्यूत, (६) प्रतिलेखना।

प्रमाद—जिस वस्तु, जिस क्षेत्र, जिस काल और जिस स्थिति में जो धर्म कार्य है, उसे नहीं करना[2]।

संयमी इन प्रमादों से परे रहता है, इसलिए वह अप्रमाद के द्वारा विजातीय-तत्त्व का आकर्षण नहीं करता।

१—सुत्ता अमुणी सया मुणिणो जागरंति। (आचा० १।३।१।१६०)

(सुप्ता अमुनयः, सदा मुनयो जाग्रति।)

२—मज्जपमाए णिद्दपमाते विसयपमाते कसायपमाते जूतपमाते पडिलेहणापमाए।

(स्था० ६।५०२)

(मद्य-प्रमादः, निद्रा-प्रमादः, विषय-प्रमादः, कषाय-प्रमादः, द्यूत-प्रमादः, प्रत्युपेक्षण-प्रमादः।)

: ११ :

जहाँ इन्द्र-धनुष नहीं होता

ओ प्रहरी ! द्वार खोल[1].
मैं मेरे देश की विधि से अज्ञान नहीं हूं.
यह देख—
मेरे पास निषिद्ध विदेशी माल नहीं है.
मैंने मदिरा की बोतलें पहले ही तोड़ डालीं.
अफीम की गोलियां वायुयान में चढ़ने से पहले ही फेंक चुका.
देख—
मेरे पास हथियार कहां है ?
सोना भी मेरे पास नहीं है.
ओ प्रहरी ! मुझे जाने दे.

१—अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ। (उत्त० २९।७१)
(अष्टाविंशतिविधं मोहनीयं कर्म उद्घातयति।)

: ११ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम! उत्क्रान्तिकी आठवीं भूमिका (निवृत्ति-बादर-गुण-स्थान) पर आरोहण करने की दो सोपान-पंक्तियाँ हैं। कपाय-मोह के परमाणुओं को उपशान्त कर जो ऊपर चढ़ता है, वह उत्क्रान्ति की ग्यारहवीं भूमिका (उपशान्त-मोह-गुण-स्थान) में पहुंच रुक जाता है। वे दबे हुए मोहके परमाणु उभर आते हैं और आरोही को फिर से नीचे उतरने के लिए बाध्य कर देते हैं। कपाय-मोह के परमाणुओं को क्षीण करता हुआ जो आरोह करता है, वह उत्क्रान्ति की दशवीं भूमिका (सूक्ष्म-सम्पराय) से सीधा बारहवीं भूमिका (क्षीण-मोह-गुण-स्थाण) पर चला जाता है। उसका कहीं भी गतिरोध नहीं होता। वह तेरहवीं भूमिका (सयोगी-केवली-गुणस्थान) पर पहुंच केवली बन जाता[1] है।

१— केवलवरनाणदंसणं समुप्पादेइ। (उत्त० २९।७१)
(केवलवरज्ञानदर्शनं समुत्पादयति।)

: १२ :

जहाँ स्पन्दन नहीं है

कौन कहता है[1]—
मैंने अपनी संस्था से त्यागपत्र दे दिया ?
मैं लोहावरण के पीछे चला गया ?
कौन कहता है—मुझे अनिद्रा का रोग हो गया ?
मैंने अपने साथियों को धोखा दिया ?
कौन कहता है—मैंने जीवन-संगिनी को तलाक दे डाला ?
यह सब विजातीय तत्त्वों का झूठा प्रचार है.
मेरा देश संस्थाओं के झमेलों से परे है.
मेरा देश आवरण से मुक्त है.
मेरा देश भूलों से परे है.
मेरा देश रूढ़िवादी मित्रों से परे है.
मेरा देश नश्वरता से परे है.
मैं विजेता की अन्तिम रक्षा-पंक्ति से बोल रहा हूं.
वह रहा मेरा देश[2].

१—प्रज्ञा० पद १ चारित्रार्थ

२—उत्त० २९।७१-७२

: १२ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! तेरहवीं भूमिका का अधिकारी—केवली अवशिष्ट भवोपग्राही कर्मों (वेदनीय, नाम, गोत्र, आयु) को भोग चवदहवीं भूमिका (अयोगी-केवली-गुण-स्थान) पर चला जाता है। यह शैलेशी—सर्वथा अडोल अवस्था है। इस पूर्ण-समाधि सम्पन्न दशा में शेष कर्मांशों को खपा क्षण भरमें मुक्त हो जाता है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग—मन, वाणी और शरीर की चंचलता—यह आत्मा का विभाव है। उसे छोड़ आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठान पा लेता है।

: १३ :

ममता का देश

मेरा देश वह है, जहां स्त्री और पुरुष नहीं है.
मेरा देश वह है, जहां धर्म और सम्प्रदाय नहीं है.
मेरा देश वह है, जहाँ गार्हस्थ्य और संन्यास नहीं है.
मेरा देश वह है, जहाँ शिक्षक और शिष्य नहीं है.
ओ समता के शास्ता! मुझे मेरी ममता के देश में ले चल,

: १३ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! विभिन्न लिंग, वेष, बोधिहेतु, संख्या वाले मनुष्य मुक्त होते हैं।

पूर्व-जीवन की अपेक्षा मुक्त-आत्माओं के पन्द्रह भेदों की कल्पना की जाती है—

(१) तीर्थसिद्ध, (२) अतीर्थसिद्ध, (३) तीर्थङ्करसिद्ध, (४) अतीर्थङ्कर-सिद्ध, (५) स्वलिङ्गसिद्ध. (६) अन्यलिङ्गसिद्ध, (७) गृहलिङ्गसिद्ध, (८) स्त्रीलिङ्गसिद्ध, (६) पुरुषलिङ्गसिद्ध, (१०) नपुंसकलिङ्गसिद्ध (कृत्रिम-नपुंसक), (११) प्रत्येकबुद्धसिद्ध, (१२) स्वयंबुद्धसिद्ध, (१३) बुद्धबोधित-सिद्ध, (१४) एकसिद्ध (१५) अनेकसिद्ध।

किन्तु मुक्त होने के बाद ये सारे भेद मिटजाते हैं। आत्मा के स्वभावसिद्ध रूप में कोई भेद नहीं होता।

: १४ :

आक्रमण की शल्य-क्रिया

ओ सैनिक ! यह लो कवच, यह लो हथियार.
याद रखना—विजेता के सैनिक आक्रान्ता नहीं होते.
उनका व्रत होता है—
अपनी सुरक्षा,
अपना शोधन.
वे नहीं जानते—
प्रतिकार,
प्रतिशोध.
उनका साध्य होता है—
अपनी सत्ता का स्वतंत्र उपभोग.
ये हथियार नहीं हैं.
आक्रामक,
प्रत्याक्रामक.
नहीं हैं
मारक.
ये विजय के हथियार
अमोघ हैं.
अव्यर्थ है इनका प्रयोग.
विजातीय-तत्त्व
विदेशी सेना
इन्हें नहीं सह सकती.

भूल न जाना
यह कवच
ये हथियार[1]
स्व-देश की सीमा में ही
तेरा साथ देंगे.

: १४ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम! मैंने दो प्रकार का धर्म कहा है—संवर और तपस्या—निर्जरा। संवर के द्वारा नये विजातीय-द्रव्य के संग्रह का निरोध होता[2] है और तपस्या के द्वारा पूर्व-संचित-संग्रह का विलय होता है। जो व्यक्ति विजातीय-द्रव्य का नये सिरे से संग्रह नहीं करता और पुराने संग्रह को नष्ट कर डालता है, वह उससे मुक्त हो जाता है।

१—एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ॥ (उत्त० ३०।६)
(एवं तु संयतस्यापि, पापकर्मनिरास्रवे।
भवकोटिसञ्चितं कर्म, तपसा निर्जीर्यते॥)
एगे संवरे, एगा णिज्जरा (स्था० १)
(एकः संवरः, एका निर्जरा।)

२—तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ।
अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणई॥ (सूत्र० १।१५।६,७)
(त्रुट्यन्ति पापकर्माणि, नवं कर्माकुर्वतः।
अकुर्वतो नवं नास्ति, कर्म नाम विजानाति॥)

: १५ :

रेचक प्राणायाम

ओ योगी ! तू प्राणायाम चाहता है ?
निराली है विजेता की प्राणायाम-विधि[1] !
विजातीय-तत्त्व का रेचन कर.
हेय जो भीतर आ घुसा है, उसे निकाल फेंक.
बाहर असार है.
पूरक किसका हो ?
तू स्वयं पूर्ण है.
उपादेय क्या हो ?
तू स्वयं सत्य है.
शिव और सौन्दर्य
हैं उसी के अभिन्न.

१—जिणवयणं गुणमहुरं, विरेयणं सव्वदुक्खाणं ।
पंचेवय उज्झिऊणं, पंचेवय रक्खिऊण भावेणं ॥
कम्मरयविप्पमुक्का, सिद्धिवरमणुत्तरं जंति । (प्रश्न० ५।४, ५)
(जिनवचनं गुणमधुरं, विरेचनं सर्वदुःखानाम् ।
पञ्चैव च उज्झित्वा, पञ्चैव च रक्षयित्वा भावेन ।
कर्मरजोविप्रमुक्ताः, सिद्धिवरमनुत्तरं यान्ति ।)

: १५ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! विजातीय-तत्त्व से वियुक्त कर अपने आपमें युक्त करनेवाला योग मैंने बारह प्रकार का बतलाया है। उनमें (१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) वृत्ति-संक्षेप, (४) रस-परित्याग, (५) काय-क्लेश, (६) प्रति संलीनता—ये छव बहिरङ्ग योग हैं।

(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्त्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग—ये छव अन्तरंग योग हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! अनशन क्या है ?

भगवान्—गौतम ! आहार-त्याग का नाम अनशन है। वह (१) इत्वरिक (कुछ समय के लिए) भी होता है, तथा (२) यावत्-कथिक (जीवन भर के लिए) भी होता है।

गौतम—भगवन् ! ऊनोदरी क्या है ?

भगवान्—गौतम ! ऊनोदरी का अर्थ है कमी करना।

(१) द्रव्य-ऊनोदरी—खान-पान और उपकरणोंकी कमी करना।

(२) भाव-ऊनोदरी—क्रोध, मान, माया, लोभ और कलह की कमी करना।

इसी प्रकार जीविका-निर्वाह के साधनों का संकोच करना—वृत्ति-संक्षेप है,

सरस आहार का त्याग रस-परित्याग है।

ओ स्थितात्मा !
तू आत्म-प्रज्ञान जो है.
यही है तेरा कुम्भक !
तेरी साधना के अङ्ग हैं—
'वहिष्कार
असहयोग'[1]
मर्मविध् ! देख—
वह भटक रहा है
पूरक-रेचक के झमेले में फँसा हुआ योगी.

1—अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।·········संलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥ (उत्त० ३०।८)
(अनशनमूनोदरिका, भिक्षाचर्या च रस-परित्यागः। ·········संलीनता च, बाह्यं तपो भवति ॥)

प्रति संलीनता का अर्थ है—बाहर से हटकर अन्तर में लीन होना।

उसके चार प्रकार हैं—

(१) इन्द्रिय-प्रति संलीनता।

(२) कषाय-प्रति संलीनता—अनुदित क्रोध, मान, माया और लोभ का निरोध; उदित क्रोध, मान, माया और लोभ का विमूलीकरण।

(३) योग-प्रति संलीनता—अकुशल मन, वाणी और शरीर का निरोध; कुशल मन, वाणी और शरीर का प्रयोग।

(४) विविक्त-शयन-आसन[1] का सेवन। इसकी तुलना पतञ्जलि के 'प्रत्याहार' से होती है। जैन-प्रक्रिया में प्राणायाम को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। उसके अनुसार विजातीय-द्रव्य या बाह्य भाव का रेचन और अन्तर-भाव में स्थिर-भाव—कुम्भक ही वास्तविक प्राणायाम है

१—औप० तपोऽधिकार

: १६ :

यात्रा का निर्वाह

यह सच है कि यह तेरा विरोधी है.
इसने तेरे बेटे को मारा—यह भी सच है.
किन्तु तेरा भाग्य इसके साथ जुड़ा हुआ है.
काठ की एक ही वेड़ी ने तुम दोनों को बांध रखा है.
इसे संविभाग देना होगा.
भरण-पोषण करना होगा.
विरोधी की ताकत बढ़ाने के लिए नहीं
किन्तु अपनी यात्रा को निभाने के लिए[1].
वहिष्कार का प्रयोग किए चल.
समय आने पर
पूर्ण वहिष्कार होगा.

१—सिवसुहसाहणेसु, आहारविरहिओ जं न वट्टए देहो ।
तम्हा धणोव्व विजयं, साहूणं तेण पेसिज्जा ॥ (ज्ञाता० २।१)
(शिव-सुख-साधनेषु, आहारविरहितो यत् न वर्तते देहः ।
तस्मात् धन इति विजयं, साधुस्तं तेन पुष्णीयात् ॥)

: १६ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम! साधक को चाहिए कि वह इस देह को केवल पूर्व-सञ्चित-मल पखालने के लिए धारण करे। पहले के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए ही इसे निवाहे। आसक्तिपूर्वक देह का लालन-पालन करना जीवन का लक्ष्य नहीं है। आसक्ति बन्धन लाती है। जीवन का लक्ष्य है—बन्धन-मुक्ति। वह ऊर्ध्वगामी और सुदूर है[1]।

१—बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे॥ (उत्त० ६।१४)
(बाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकांक्षेत् कदापि च।
पूर्वकर्मक्षयार्थम्, इमं देहं समुद्धरेत्॥)

: १७ :

तट की रेखा

ओ यात्री[1]!
ऊपर देख,
विजेता के सिंह-द्वार पर क्या लिखा है—
"भोग रोग है, विलास विनाश है[2]".
इस गुदड़ी को उतार फेंक,
इसे पतली कर,
फाड़ डाल.
फाड़नेवाला ही सफल होता है[3].
यह मिलन नहीं, पराजय की आत्मा है.
यह सुख नहीं, पराजय का कलेवर है.
यह सुविधा नहीं, पराजय का सिंगार है.
यह आराम नहीं, पराजय की प्रतिष्ठा है.
तेरा तट विजय के पास है.

१—ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जंति, कायकिलेसं तमाहियं। (उत्त० ३०।२७)
(स्थानानि वीरासनादीनि, जीवस्य तु सुखावहानि।
उग्राणि यथा धार्यन्ते, काय-क्लेशः स आख्यातः ॥)

२—तम्हा उड्ढंति पासहा अदक्खु कामाइ रोगवं। (सूत्र० कृ० १।२।३।२)
(तस्माद् ऊर्ध्वं पश्यत अद्राक्षुः कामान् रोगवत्।)

३—अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ। (सूत्र० १।२।२।३०)
(आत्महितं दुःखेन लभ्यते।)
देहदुक्खं महाफलं। (दश० ८।२७)
(देहदुःखं महाफलम्।)

: १७ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! सुख-सुविधा की चाह आसक्ति लाती है। आसक्ति से चैतन्य मूर्च्छित हो जाता है। मूर्च्छा धृष्टता लाती है। धृष्ट व्यक्ति विजय का पथ नहीं पा सकता। इसलिए मैंने यथाशक्ति काय-क्लेश का विधान किया[1] है।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! काय-क्लेश क्या है ?

भगवान्—गौतम ! काय-क्लेश के अनेक प्रकार हैं। जैसे—

स्थान-स्थिति – स्थिर शान्त खड़ा रहना—कायोत्सर्ग।

स्थान—स्थिर शान्त बैठा रहना—आसन।

उत्कुटुक-आसन, पद्मासन, वीरासन, निषद्या, लकुट-शयन, दण्डायत—ये आसन हैं, बार-बार इन्हें करना।

आतापना—सी-ताप सहना, निर्वस्त्र रहना, शरीर की विभूषा न करना, परिकर्म न करना—यह काय क्लेश[2] है।

यह अहिंसा—स्थैर्य का साधन है।

१—अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखै-रात्मानं भावयेन्मुनिः ॥ (समा० १०२)

२—औप० तपोऽधिकार

: १८ :

क्षमा दो

ओह ! यह मदिरा किसने बनाई[1] ?
कितना डरावना था उसका उन्माद !
वह प्याली किसने उंडेली ?
जो भान आया ही नहीं.
ओ मेरे देशवासियो !
मैं मातृभूमि का विद्रोही हूं.
मुझे क्षमा दो.
मैंने दिया
विजातीय तत्त्वों को आलम्बन,
अपने आप को धोखा.
मुझे क्षमा दो.
मैंने किया
मेरे देश की प्रभु-सत्ता का तिरस्कार,
राष्ट्रीय पताका का अपमान.
मुझे क्षमा दो.
मैं प्रायश्चित्त का भागी हूं.
मुझे क्षमा दो.

१—पायच्छित्तं (उत्ता० ३०।३०)
(प्रायश्चित्तम् ।)

: १८ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! आलोचना (अपने अधर्माचरण का प्रकाशन) पूर्वकृत पाप की विशुद्धि का हेतु है। प्रतिक्रमण—(मेरा दुष्कृत विफल हो—इस भावनापूर्वक अशुभ कर्म से हटना) पूर्वकृत पाप की विशुद्धि का हेतु है। अशुद्ध वस्तु का परिहार, कायोत्सर्ग, तपस्या—ये सब पूर्वकृत पाप की विशुद्धि के हेतु[1] हैं।

१—औप० तपोऽधिकार

: १९ :

मैं और मेरा

मैं अहंकारी हूं[1].
अब नहीं झुकूंगा.
मेरा सर्वस्व 'मैं' है.
तू कौन है मुझे झुकानेवाला ?
मैं ऊपर उठ चुका हूं.
वह रहा नीचे उपचार.
पवन ने गाया
विनय यही है
आक्रामक का वहिष्कार करो.

× × ×

मैं स्वार्थी हूं.
मैंने व्रत लिया है.
मेरी सेवा ही मेरा धर्म है.
आक्रान्ता विफल होगा.
विहग ने गाया
परमार्थ यही है
आक्रामक का वहिष्कार करो.

× × ×

१—……विणओ वेयावच्चं, तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥
(……विनयः वैयावृत्यं, तथैव स्वाध्यायः ।
ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः ॥) (उत्त० ३०।३०)

: १९ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! विनय के सात प्रकार हैं :—

(१) ज्ञान का विनय, (२) श्रद्धाका विनय, (३) चारित्र का विनय और (४) मन-विनय।

अप्रशस्त मन-विनय के बारह प्रकार हैं :—

(१) सावद्य, (२) सक्रिय, (३) कर्कश, (४) कटुक, (५) निष्ठुर, (६) परुष, (७) आस्रवकर, (८) छेदकर, (९) भेदकर, (१०) परितापकर, (११) उपद्रवंकर और (१२) जीव घातक।

इन्हें रोकना चाहिये।

प्रशस्त मन के बारह प्रकार इनके विपरीत हैं।

इनका प्रयोग करना चाहिये।

(५) वचन-विनय—मन की भांति अप्रशस्त और प्रशस्त वचन के भी बारह-बारह प्रकार हैं।

(६) काय-विनय—अप्रशस्त-काय-विनय—अनायुक्त (असावधान) वृत्ति से चलना, खड़ा रहना, बैठना, सोना, लाँघना प्रलांघना, सब इन्द्रिय और शरीर का प्रयोग करना। यह साधक के लिए वर्जित है।

प्रशस्त-काय-विनय—आयुक्त (सावधान) वृत्ति से चलना, यावत् शरीर प्रयोग करना—यह साधक के लिए प्रयुज्यमान है।

(७) लोकोपचार-विनय के ७ प्रकार हैं :—

(१) बड़ों की इच्छा का सम्मान करना, (२) बड़ों का अनुगमन करना, (३) कार्य करना, (४) कृतज्ञ बने रहना, (५) गुरु के चिंतन की गवेषणा करना, (६) देश-कालका ज्ञान करना और (७) सर्वथा अनुकूल रहना।

मैं अदूरदर्शी हूं.
जो दूर है, वह अविद्या है.
विद्या स्वयं मैं हूं.
जो दूर है, वह तिमिर है.
ज्योति स्वयं मैं हूं.
जो दूर है, वह अपूर्ण है.
पूर्ण स्वयं मैं हूं.
आलोक ने लिखा.
दूरदर्शिता यही है
आक्रामक का बहिष्कार करो.

× × ×

मैं साम्प्रदायिक हूं.
बाहर असार है
सार मैं हूं.
बाहर असत्य है
सत्य मैं हूं.
असार की चिन्ता में रहा
आदि से अब तक
असत्य की चिन्ता में रहा
आदि से अब तक
इधर देखा उधर देखा.
सबको देखा.
इधर घूमा उधर घूमा.
सब जगह घूमा.
प्याज के छिलके उतारे.
पाया क्या ? कुछ नहीं.

गौतम—भगवन्! वैयावृत्य क्या है?

भगवान्—गौतम! वैयावृत्य का अर्थ है,—सेवा करना, संयम को आलम्बन देना।

साधक के लिए वैयावृत्य के योग्य दश श्रेणी के व्यक्ति हैं—

(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) शैक्ष—नया साधक, (४) रोगी, (५) तपस्वी, (६) स्थविर, (७) साधर्मिक—समान धर्म आचारवाला, (८) कुल, (९) गण, (१०) संघ।

गौतम—भगवन्! स्वाध्याय क्या है?

भगवान्—गौतम! स्वाध्याय का अर्थ है—आत्मविकासकारी अध्ययन। उसके पाँच प्रकार हैं:—

(१) वाचन, (२) प्रश्न, (३) परिवर्तन—स्मरण, (४) अनुप्रेक्षा—चिन्तन (५) धर्म-कथा।

गौतम—भगवान्—ध्यान क्या है?

भगवान्—गौतम! ध्यान (एकाग्रता और निरोध) के चार प्रकार हैं:—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म, (४) शुक्ल।

आर्त्त के चार प्रकार हैं:—(१) अमनोज्ञ वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए (२) मनोज्ञ वस्तु का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए, (३) रोग निवृत्ति के लिए, (४) प्राप्त सुख-सुविधा का वियोग न हो इसके लिए,

जो आतुर-भावपूर्वक एकाग्रता होती है, वह आर्त्त-ध्यान है।

(१) आक्रन्द, (२) शोक, (३) रुदन और (४) विलाप—ये चार उसके लक्षण हैं।

(१) हिंसानुबन्धी (२) असत्यानुबन्धी (३) चौर्यानुबन्धी प्राप्त भोग के संरक्षण सम्बन्धी जो चिन्तन है, वह रौद्र (क्रूर) ध्यान है।

(१) स्वल्पहिंसा आदि कर्म का आचरण (२) अधिक हिंसा आदि कर्म का आचरण (३) अनर्थकारक शस्त्रों का अभ्यास (४) मौत आने तक दोष का प्रायश्चित्त न करना—ये चार उसके लक्षण हैं। ये दो ध्यान वर्जित हैं।

चपलता को समझा
उदारता, असंकीर्णता.
अब मुझे निर्देश मिला है.
मेरी चिन्ता का क्षेत्र
सिकुड़ गया.
अब शेष है 'मैं' की चिन्ता
ऊर्मि ने गाया.
असाम्प्रदायिकता यही है
आक्रामक का बहिष्कार करो.

× × ×

मैं निष्क्रिय हूं.
क्रियाशील रहा.
जागा.
खूब जागा.
जागता ही रहा.
चला.
खूब चला.
चलता ही रहा.
किनारा नहीं दीखा.
थमा कि
आंखें खुल गईं.
नींद टूट पड़ी.
देखा
'मैं' यह नहीं हूं.
यह 'मैं' नहीं है.
किनारा मिल गया
अनन्त ने गाया
सक्रियता यही है
आक्रामक का बहिष्कार करो.

(१) आज्ञा-निर्णय, (२) अपाय, (दोप-हेय)-निर्णय, (३) विपाक (हेय-परिणाम)-निर्णय, (४) संस्थान-निर्णय—यह ध्यान है।

(१) आज्ञारुचि, (२) निसर्गरुचि, (३) उपदेशरुचि, (४) सूत्ररुचि—यह चतुर्विध श्रद्धा उसका लक्षण है।

(२) वाचन, (२) प्रश्न, (३) परिवर्तना, (४) धर्म-कथा—ये चार उसकी अनुप्रेक्षाएँ हैं—चिन्त्य विपय हैं।

शुक्ल ध्यान के चार प्रकार हैं :—

(१) भेद-चिन्तन (पृथक्त्व-वितर्क-सविचार।)

(२) अभेद-चिन्तन (एकत्व-वितर्क-अविचार।)

(३) मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध (सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति)

(४) श्वासोछ्वास जैसी सूक्ष्म प्रवृत्ति का निरोध—पूर्ण-अकम्पन-दशा (समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति)

(१) विवेक—(१) आत्मा और देह के भेद-ज्ञान का प्रकर्ष, (२) व्युत्सर्ग—सर्व-संग-परित्याग, (३) अचल-उपसर्ग-सहिष्णु (४) असम्मोह—ये चार उसके लक्षण हैं।

(१) क्षमा, (२) मुक्ति, (३) आर्जव, (४) मृदुता—ये चार उसके आलम्बन हैं।

(१) अपाय, (२) अशुभ, (३) अनन्त-पुद्गल-परावर्त, (४) वस्तुपरिणमन—ये चार उसकी अनुप्रेक्षाएं हैं।

ये दो ध्यान—धर्म और शुक्ल आचरणीय हैं।

गौतम—भगवन्! व्युत्सर्ग क्या है?

भगवान्—गौतम! शरीर, सहयोग, उपकरण और खानपान का त्याग तथा कपाय, संसार और कर्म का त्याग व्युत्सर्ग[1] है।

---

1 औप० तपोऽधिकार

: २० :

आलम्बन की डोर

यह कौन खड़ा है ?
कब से खड़ा है ?
अश्रान्त
अक्लान्त
मौन
और शान्त.
शिर आकाश को लगा है.
पैर ठेठ पाताल को छू रहे हैं.
अनन्त शून्य के बीच
पैर फैलाए
क्षीण-कटि पर दोनों हाथ टिकाये
यह कौन पुरुष खड़ा है ?
अकृत्रिम
अनादि और अनन्त
छब धातुओं का सहयोग लिए
यह कौन खड़ा है ?
अद्भुत है यह रंगभूमि.
कहीं गढ़े ही गढ़े हैं,
कहीं पहाड़ ही पहाड़.
कहीं सौन्दर्य ही सौन्दर्य है,
कहीं बीभत्स ही बीभत्स.
कहीं अन्धकार ही अन्धकार है,
कहीं प्रकाश ही प्रकाश.
कहीं उत्सव ही उत्सव है,
कहीं हाहाकार ही हाहाकार.
इस रंगभूमि को आत्मसात् किए
यह कौन खड़ा है ?

: २० :

आलोक

भगवान् ने--

(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) संसार, (४) एकत्व, (५) अन्यत्व, (६) अशौच, (७) आस्रव, (८) संवर, (९) निर्जरा, (१०) धर्म, (११) लोक-संस्थान, (१२) वोधि-दुर्लभता इन वारह भावनाओं का निरूपण किया।

इनके चिन्तन से चित्त एकाग्र और अध्यात्म के संस्कार से सुसंस्कृत हो जाता है। इनमें लोक-संस्थान-भावना अति महत्वपूर्ण है[1]।

ध्यान से पहले धारणा[2] होनी चाहिये। धारणा में शरीर के अंगों तथा वाहरी वस्तुओं को भी आलम्वन वनाया जा सकता है। भगवान् ने स्वयं ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक तथा परमाणु पर दृष्टि टिकाए ध्यान किया तथा अनिमेष दृष्टि[3] रहे।

नासाग्र[4], भृकुटी, कान, ललाट, नाभि, तालु, हृदय-कमल[5]—ये शारीरिक आलम्वन हैं। स्वरूप का चिन्तन आत्मिक-आलम्वन है।

१—एवं लोको भाव्यमानो विविक्त्या, विज्ञानं स्यान्मानसस्थैर्यहेतु।
स्थैर्यं प्राप्ते मानसे चात्मनीना, सुप्राप्यैवाध्यात्मसौख्यप्रसूतिः॥ (शान्त० ११।७)

२—एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं चित्तनिरोहं करेइ (उत्त० २९।२५)
(एकाग्रमनः संनिवेशनया चित्तनिरोधं करोति।)

३—अविझाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढं अहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिन्ने। (आचा० १।९।४।१०८)
(अपि ध्यायति स महावीरः, आसनस्थोऽकुत्कुचो ध्यानम्।
ऊर्ध्वमधः तिर्यक् च, प्रेक्षमाणः समाधिमप्रतिज्ञः)
एकपोग्गलनिविट्ठदिट्ठी अणिमिसनयणे। (भग० ३।२)
(एक पुद्गलनिविष्टदृष्टिः अनिमिषनयनः।)

४—वपुश्च पर्यङ्कशयं श्लथं च, दृशौ च नासानियते स्थिरे च (अ० द्वा० श्लोक२०)

५—चक्षुर्विषये श्रवसि ललाटे, नाभौ तालुनि हृत्कजनिकटे।
तत्रैकस्मिन् देशे चेतः, सद्ध्यानी धरतीत्यतिशान्तम्॥ (वैरा० श्लोक ३४)

पाँच : विश्राम

(सिद्धि-लाभ)

सिद्धिं गच्छइ नीरओ । (दश० ४।२४)

राज-मुक्त आत्मा सो सिद्धि-लाभ होता है।

सिद्धिः—अशेषद्वन्द्वोपरमः । (सूत्र० वृत्ति १।१।३।१४)

यह सब द्वन्द्वों की निवृत्ति है।

: १ :

उदासीन सम्प्रदाय

यह उदासीन सम्प्रदाय है.
यह प्रचार नहीं करता, फिर भी व्यापक है.
समझाने-बुझाने से कोसों दूर.
फिर भी सारा विश्व इसका अनुयायी है.
सहयोग का हाथ बढ़ाया हुआ है.
द्वार खुले हैं.
कोई आये या न आए.
बैठे या न बैठे.
अपनी-अपनी इच्छा है.
चिन्ता करनेवाला कोई नहीं.
सब शरणार्थी हैं.
परिवर्तन का नियम अटल है.
प्रेरणा की परम्परा यहाँ नहीं है.
चेतन भी आते हैं.
जड़ भी आते हैं.
दोनों बदलते हैं.
जड़ जड़ ही रहा है.
चेतन चेतन.
खाई कभी नहीं पटती.
द्वन्द्व का मार्ग पुल है.
उसके टूटने पर
इधरवाला इधर, उधरवाला उधर.
यातायात का मार्ग बन्द होजाता है.

: १ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! जो तू जानना चाहता है, वह मुझसे बाहर[1] नहीं है। यह विश्व पाँच सत्ताओं (अस्तिकाय या वास्तविक-द्रव्यों) का संघात है। आधार देनेवाली सत्ता को मैं आकाश कहता हूं। गति-सहायक सत्ता को मैं धर्म कहता हूं। स्थिति-सहायक सत्ता को मैं अधर्म कहता हूं। परिवर्तन का निमित्त जो है, वह काल है। मिलने-बिछुड़नेवाली सत्ता को मैं पुद्गल कहता हूं। चैतन्यमय सत्ता को मैं जीव कहता हूं। अवकाश, गति, स्थिति, संयोग-वियोग और चैतन्य के समवाय को मैं विश्व कहता[2] हूं।

धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीनों व्यापक हैं। विश्व का एक कोना भी इनकी सत्ता से परे नहीं है। व्यापक अनेक नहीं होता। ये एक हैं। इनका कोई साथी नहीं है। ये सब द्वन्द्वों से परे हैं। रूप से भी परे[3] हैं। ये गति, स्थिति और अवगाह के उदासीन सहायक हैं।

भगवान् ने कहा—गौतम ! पुद्गल सदा चैतन्य से परे हैं, जीव रूप से परे हैं, किन्तु ये द्वन्द्व से परे नहीं हैं। दोनों सब जगह हैं किन्तु व्यापक नहीं हैं। दोनों की अनन्त-अनन्त सजातीय व्यक्तियाँ हैं[4]। ऊपर और नीचे, सामने और पीछे, इधर और उधर जो दीखरहा है, वह सब इन्हीं का द्वन्द्व है। ये आपसमें मिलते-बिछुड़ते हैं। ये ही जीते-मरते हैं और हँसते-रोते हैं। यह सब इन्हीं की माया है। जो जो बसते-उजड़ते हैं, बनते-बिगड़ते हैं; यह इन्हीं का संघर्ष है।

द्वन्द्व का हेतु कार्मण शरीर है। उसका वियोग होने पर ही जीव मुक्त बनता है—फिर कभी वह द्वन्द्व नहीं बनता।

१—जमतीतं पडुपन्नं, आगामिस्सं च णायओ।
सव्वं मन्नति तं ताई, दंसणावरणं तए॥
अंतए वितिगिच्छाए, से जाणति अणेलिसं। (सूत्र० १५।१,२)
(यदतीतं प्रत्युपन्न-मागमिष्यच्च नायकः। सर्वं मन्यते तत् त्रायी, दर्शनावरणान्तकः॥ अन्तको विचिकित्सायाः, स जानात्यनीदृशम्।)

२—धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गलजंतवो।
एस लोगोत्ति पन्नतो, जिणेहिं वरदंसिहिं। (उत्त० २८।७)
(धर्मोऽधर्म आकाशं, कालः पुद्गलजन्तवः। एष लोक इति प्रज्ञप्तः, जिनैर्वरदर्शिभिः॥)

३—धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं (उत्त० २८।८)
(धर्मोऽधर्म आकाशं, द्रव्यमेकैकमाख्यातम्।)

४—उत्त० २८।१०, भग० १३।४।४८१

५—अणंताणि य दव्वाणि, कालोपुग्गलजंतवो। (उत्त० २८।८)
(अनन्तानि च द्रव्याणि, कालपुद्गलजन्तवः।)

: २ :

निराशा की रेखा

ओ सर्वज्ञ! मैं तेरा मार्ग कैसे जानूँ?
देखो न! ये कजरारे बादल मंडरा रहे हैं.
ये मेरे प्रकाश को ढांके हुए[1] हैं.

× × ×

ओ सर्वदर्शिन! मैं तुझे कैसे देखूं?
ये गगनचुम्बी दीवारें और अट्टालिकाएँ
मेरी पारदर्शी दृष्टि को कैद किये बैठी[2] हैं.

× × ×

ओ निर्मोह! मैं तेरा यथार्थ रूप कैसे समझूँ?
इधर मदिरा की प्याली ने मुझे मोह में डाल रखा है.
उधर मेरे साथियों के स्वैर-प्रलापों ने मुझे बहरा बना रखा है.
कोई कहता है—लोक है.
कोई कहता है—वह नहीं है.
कोई कहता है—पृथ्वी स्थिर है.
कोई कहता है—वह चर है.
कोई कहता है—लोक सादि है.
कोई कहता है—वह अनादि है.

१—नाणावरणं (उत्त० ३३।४)
(ज्ञानावरणम्)
२—दंसणावरणं (उत्त० ३३।६)
(दर्शनावरणम्)

: २ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! आस्रवके द्वारा आकृष्ट और आत्मा के साथ बद्ध होकर उसे प्रभावित करनेवाले परमाणु-समूह की संज्ञा कर्म है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह (दर्शन-मोह, चरित्र-मोह), अंतराय, वेदनीय, नाम, गोत्र, आयु—ये आठ कर्म[1] हैं।

अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-पवित्रता, अनन्त-वीर्य, अनन्त-आनन्द, अमूर्तिकता, अगुरुलघुत्व, अनन्तस्थिरता—ये आत्मा के आठ लक्षण हैं।

१—उत्त० ३३।१,२,३

कोई कहता है—लोक सान्त है.
कोई कहता है—वह अनन्त है.
कोई कहता है—पुण्य-पाप है.
कोई कहता है—वे नहीं है.
कोई कहता है—साधु-सन्यासी हैं.
कोई कहता है—वे नहीं है.
कोई कहता है—स्वर्ग और नरक हैं.
कोई कहता है—वे नहीं हैं.
कोई कहता है—मोक्ष है.
कोई कहता है—वह नहीं[1] है.
कोई कहता है—आत्मा और परमात्मा हैं.
कोई कहता है—वे नहीं हैं.
कोई कहता है—कल्याण-कर्म का कल्याण-फल और पाप-कर्मका पाप फल है.
कोई कहता है—वे सम[2] ही हैं.

× × ×

ओ वीतराग ! मैं तेरे पथ पर कैसे चलूं ?
इधर सुनहरे सपनों की मादकता से पैर लड़खड़ा रहे हैं.
उधर मेरे साथी पुकार-पुकार कर कह रहे हैं—
परलोक किसने देखा है ?
विजय का आनन्द किसने लूटा है ?
ये पौद्गलिक सुख प्रत्यक्ष हैं.
वर्तमान को छोड़ भविष्य के लिए दौड़ता है, वह निरा मूर्ख है.
अपन तो सबके साथ चलेंगे.

१—आचा० १।७।१।१९६

२—दशा० ६

विजातीय द्रव्य (कर्म-परमाणु) आत्मा से चिपटकर उन्हें विकृत किये हुए हैं।

ज्ञान को आवृत करनेवाले कर्म-परमाणु ज्ञानावरण कहलाते हैं।

दर्शन को आवृत करनेवाले तथा नींद के हेतुभूत कर्म-परमाणु दर्शनावरण कहलाते हैं।

आत्मा में विकार पैदा करनेवाले कर्म-परमाणु मोह कहलाते हैं।

आत्मा के वीर्य को रुद्ध करनेवाले कर्म-परमाणु अन्तराय कहलाते हैं।

जो सबका होगा, वही हमारा[1] होगा.
मनुष्य पुद्गल का पुतला है.
वह पुद्गल में घुला-मिला रहे, उसे पराजय कौन कहता है ?
यह भोग हमारा निसर्ग है.
इसे पराजय कौन कहता है ?
ये मन को लुभानेवाले शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—
हमारे सुख-दुःख के साथी हैं.
इनके संग को पराजय कौन कहता है ?
हमें सपनों की विजय नहीं चाहिए.
कोरी कल्पना की उड़ान भरनेवाली विजय हमें नहीं चाहिए.
देखो न ! इन मोहक स्वरों ने मार्ग में कितने घुमाव डाल[2] दिये हैं

× × ×

ओ निर्विघ्न ! मैं तेरे पास नहीं आ सकता.
पहले इन प्रहरियों से निपटने दे.
इन्होंने तेरे सिंहद्वार पर कांटों का जाल बिछा रखा[3] है.

१—जे गिद्धे काम भोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥
हत्थगया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥
जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भई ।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥ (उत्त० ५।५,६,७)
(यो गृद्धः कामभोगेषु, एकः कूटाय गच्छति ।
न मया दृष्टः परलोकः, चक्षुर्दृष्टेयं रतिः ॥
हस्तगता इमे कामाः, कालिका येऽनागताः ।
को जानाति परो लोकः, अस्ति वा नास्ति वा पुनः ॥
जनेन सार्धं भविष्यामि, इति बालः प्रगल्भते ।
कामभोगानुरागेण, क्लेशं सम्प्रतिपद्यते ॥)
२—मोहणिज्जंपि दुविहं, दंसणे चरणे तहा । (उत्त० ३३।८)
(मोहनीयमपि द्विविधं, दर्शने चरणे तथा ।)
३—अन्तरायं (उत्त० ३३।१५)
(अन्तरायम्)

ये चारों घात्य या मूल कर्म हैं। इनके क्षय के लिए आत्मा को तीव्र प्रयत्न करना होता है। ये चारों कर्म अशुभ ही होते हैं। इनके आंशिक क्षय या उपशम से आत्मा का स्वरूप आंशिक मात्रा में उदित होता है। इनके पूर्ण क्षय से आत्म-स्वरूप का पूर्ण विकास होता है।

: ३ :

आश्वासन

ओ अब्ज !
तू मेरा अनुगामी रहा है.
तेरी हँसी है मेरी प्रभा का प्रतिबिम्ब.
मेरा पथ
अनन्त
उन्मुक्त है.
तू पङ्क से ऊपर उठा है.
पर अनन्त से अभी दूर है.
पराग नहीं धुला.
सूर्य अभी दूर है.
अधीर मत बन
सिमट मत.
तेरा मुंह ऊपर को है.
यह जल सूखनेवाला है.
अनन्त का शब्द-कोष—
'तू' और 'मैं' से खाली है.
वहां 'तू' और 'मैं' अनेकार्थ नहीं होगा[1].

१—समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी—चिर संसिट्ठोऽसि मे गोयमा ! चिरसंथुओऽसि मे गोयमा ! चिरपरिचिओऽसि मे गोयमा ! चिरजुसिओऽसि मे गोयमा ! चिराणुगओऽसि मे गोयमा। चिराणुवत्ती सि मे गोयमा ! अणंतरं देवलोए अणंतरं माणुस्सए भवे, किं परं ? मरणा कायस्स भेदा, इओ चुत्ता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्साओ।

(भग० १४।७)

: ३ :

आलोक

गौतम ! भगवान् ने आमन्त्रण किया।

भगवान् बोले—गौतम ! तू चिरकाल से मेरे साथ स्नेह-बन्धन से बँधा हुआ है। चिरकाल से तू मेरा प्रशंसक रहा है। चिरकाल से तेरा मेरे साथ परिचय है। चिरकाल से तू मेरी सेवा करता रहा है। चिरकाल से तू मेरा अनुगामी रहा है। चिरकाल से तू मेरे अनुकूल वर्तता रहा है।

गौतम ! पार्श्ववर्ती देव-जन्म में तू मेरा साथी रहा है। मनुष्य-जन्म में भी तू मेरा सम्बन्धी रहा है। मेरा और तेरा सम्बन्ध चिर-पुराण है। अब आगे भी इस शरीर-त्यागके बाद हम दोनों तुल्य होंगे, एकार्थ होंगे। तेरा और मेरा अर्थ भिन्न नहीं होगा, प्रयोजन भिन्न नहीं होगा, क्षेत्र भी अभिन्न होगा। वहां हम दोनों में कोई भेद नहीं होगा। नानात्व भी नहीं होगा।

गौतम ! यह थोड़े समय में ही होनेवाला है, फिर तू खिन्न क्यों है ?

: ४ :

कुञ्जी नहीं

ओ वन्दी ! माना—यह उदार-दल का शासन है.
कुछ सुविधाएँ मिल सकती हैं.
देख–मुक्ति का द्वार वन्द पड़ा है.

× × ×

तू मत सोच—यह फूलों की सेज है.
इनकी केसर में तेरे पैर उलझ गये हैं.
देख—स्वतन्त्रता का द्वार बन्द पड़ा है.

× × ×

तू मत भूल यह हीरों का उपहार नहीं है.
यह तेरी आँखों का उपहास है.
देख—ज्योति का द्वार वन्द पड़ा है.

× × ×

तू मत समझ—यह प्रासाद है.
यह विदेशी सत्ता का विजय-स्तूप है.
पराजित व्यक्ति यहाँ वैठ अपनी विषमता के गीत गाया करते हैं.
देख—समता का द्वार बन्द पड़ा है.

: ४ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! चार कर्म (वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र) शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। अशुभ-कर्म अनिष्ट-संयोग और शुभ-कर्म इष्ट-संयोग के निमित्त बनते[1] हैं। इन दोनों का जो संगम है, वह संसार[2] है। पुण्य-परमाणु सुख-सुविधा के निमित्त बन सकते हैं, किन्तु उनसे आत्मा की मुक्ति नहीं होती। ये पुण्य और पाप दोनों बन्धन हैं। मुक्ति इन दोनों के क्षय से होती[3] है।

१—प्रज्ञा० पद २३

२—एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं। (उत्त० १०।१५)

(एवं भवसंसारे, संसरति शुभाशुभैः कर्मभिः।)

३—दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं,

निरंजणे सव्वओ विप्पमुक्के। (उत्त० २१।२४)

(द्विविधं क्षपयित्वा च पुण्यपापं,

निरञ्जनः सर्वतो विप्रमुक्तः।)

: ५ :

आशा का द्वीप

ओ आनन्द धन !
ये मूर्च्छित बनानेवाले मीठे अणु,
ये अमृत से भरे जहर के घड़े,
ये मधु लिपटी तलवारें,
ये खुजली के कीड़े,
समूचे आकाश-मण्डल पर छा गये हैं.
इनकी मिठास ने अनन्त बार मारा, काटा और खुजलाया है.
ओ विजेता ! मेरा मानस इन गुलामी के मीठे टुकड़ों से ऊब गया है.
मैं तेरे उस स्वच्छ वातावरण में आना चाहता हूं—
जहां जो बाहर है वही भीतर है
और पहले है वही पीछे है[1].

× × ×

ओ विदेह !
इस रेशमी कीड़े ने अपने हाथों यह जाल कब बुना था ?
यह अभिमन्यु इस चक्र-व्यूह में कब घुसा था ?
इसका आदि-बिन्दु कहाँ है ?
इसका मध्य-बिन्दु कहाँ है ?
ओ विजेता ! इस वलय का आदि और अन्त नहीं है.
मैं तेरे उस मुक्त वातावरण में आना चाहता हूं.
जहां जालों, व्यूहों और वलयों की परम्परा ही नहीं है[2]।

× × ×

१—वेयणीयं पिय दुविहं, सायमसायं च आहियं। (उत्त० ३३।७)
(वेदनीयमपि च द्विविधं, सातमसातं चाख्यातम्।)

२—नामकम्मं तु दुविहं, सुहमसुहं च आहियं। (उत्त० ३३।१३)
(नामकर्म तु द्विविधं, शुभमशुभं चाख्यातम्)

: ५ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं—(१) सात वेदनीय, (२) असात वेदनीय। ये क्रमशः सुखानुभूति और दुःखानुभूति के निमित्त बनते हैं। इनका क्षय होने पर अनन्त आत्मिक आनन्द का उदय होता है। नाम-कर्म के दो प्रकार हैं—शुभ नाम और अशुभ नाम। शुभ नाम के उदय से व्यक्ति सुन्दर, आदेय-वचन, यशस्वी और विशाल व्यक्तित्व वाला होता है तथा अशुभ नाम के उदय से इससे विपरीत होता है। इनके क्षय होने पर आत्मा अपने नैसर्गिक भाव—अमूर्तिक-भाव में स्थित हो जाता है।

गोत्र कर्म के दो प्रकार हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र—ये क्रमशः उच्चता और नीचता, सम्मान और असम्मान के निमित्त बनते हैं। इनके क्षय से आत्मा अगुरु-लघु—पूर्ण-सम बन जाता है।

ओ उपाधि-मुक्त !
पहाड़ की तलहटी और चोटी के बीच गिरते-उठते युग बीत चले.
कौन छोटा है और कौन बड़ा ?
मैं कब का छोटा और कब का बड़ा ?
यह चोटी भी उपाधि है.
यह तलहटी भी उपाधि है.
यह विजातीय शासन की प्रथा है.
ओ विजेता ! मैं तेरे उस शान्त वातावरण में आना चाहता हूं,
जहाँ ये उपाधियां नहीं हैं[1].

× × ×

ओ अमृत !
मौत का मुंह अनन्त आकाश से भी बड़ा है.
जन्म का विवर्त महासागर के भंवर से कहीं अधिक गहरा है.
इन संयोग-वियोग की लहरियों से ऊँचा उठकर
मैं तेरे उस सुस्थिर वातावरण में आना चाहता हूं,
जहाँ मिलन और बिछुड़न की कोई परिभाषा ही नहीं है[2].

१—गोयं कम्मं दुविहं, उच्चं नीयं च आहियं । (उत्त० ३३।१४)
(गोत्रं कर्म द्विविधम्, उच्चं नीचं चाख्यातम् ॥)

२—नेरइय तिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य । (उत्त० ३३।१२)
(नैरयिकतिर्यगायुः, मनुष्यायुस्तथैव च ॥)

आयुष्य के दो प्रकार हैं—शुभ आयु, अशुभ आयु। ये क्रमशः सुखी जीवन और दुःखी जीवन के निमित्त बनते हैं। इनके क्षय से आत्मा अमृत और अजन्मा बन जाता है। ये चारों भवोपग्राही कर्म हैं। इनके परमाणुओं का वियोग मुक्ति होने के समय एक साथ होता[1] है।

1—अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टि सुक्कज्झाणं।
झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि कम्मं से जुगवं खवेइ।
(उत्त० २९।७२)

(अनगारः समुच्छिन्नक्रियमनिवृत्तिशुक्लध्यानं ध्यायन्
वेदनीयमायुर्नाम गोत्रञ्चैतान् चतुरः कर्मांशान् युगपत् क्षपयति।)

: ६ :

चलता चल

आज विजेता नहीं है[1].
ओह! ये इतने सारे मार्ग ?
कौन जाने "कौन कहाँ जाता है" ?
कौन सम है ? कौन विषम ?
ये सारे मार्ग दर्शक ?
कौन जाने.
कौन अपनी श्लाघा से परे है ?
कौन दूसरों की निन्दा से परे ?
तुमुल-घोष हो रहा है.
इधर आओ इधर,
मार्ग यह है ।
वह नहीं.
यह......यह.........
इस खींचातानी में
जानेवाला कहेगा
कहाँ जाऊँ ?
आज विजेता नहीं है.
मार्ग-दर्शक नहीं है.
ओ यात्री !
तुझे योग मिला है

१—न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए ।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम मा पमायए ॥ (उत्त० १०।३१)
(न हु (खलु) जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो हु दृश्यते मार्गदेशितः ।
सम्प्रति नैय्यायिके पथि, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ।)

विजेता का.

विजेता के पथ का.

पैरों को मत थाम.

चलता चल.

सागर तर चुका.

तू तीर पर मत रुक.

चलता चल[1]

: ६ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! तू क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

1—तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम मा पमायए ॥ (उत्त० १०।३४)
(तीर्णोऽसि खलु अर्णवं महान्तं, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः।
अभित्वरस्व पारं गन्तु, समयं गौतम ! मा प्रमादीः।)

: ७ :

क्षितिज के उस पार

यह सूरज का देश है.
यहां दीप नहीं जला करते.
यह अमृत का देश है.
यहां सरिताएँ नहीं बहा करतीं.
यह समता का देश है.
यहां निर्झर नहीं हुआ करते.
यह अनन्त का देश है.
यहां दीवारें नहीं हुआ करतीं.
यह प्रकृति का देश है.
यहां रसोई नहीं पका करती.
यह मुक्ति का देश है.
यहां परदा नहीं हुआ करता.

: ७ :

आलोक

भगवान् ने कहा—गौतम ! वीतराग दशा आते ही सब आवरण क्षीण हो जाते हैं, आत्मा निरावरण बन जाता है[1]। यहां आत्मा का साक्षात् करने की सोचनेवाले औपाधिक ज्ञान, इन्द्रिय और मन रहते ही नहीं। वे सब निरावरण ज्ञान—केवल ज्ञान में विलीन होजाते हैं। इस दशा में ज्ञाता के साथ ज्ञान का सीधा सम्पर्क हो जाता है। फिर माध्यम (पौद्गालिक, इन्द्रिय और मन) की अपेक्षा नहीं रहती[2]। कैवल्य की प्राप्ति के बाद आत्मा शेष आयुष्य भोगकर मुक्त हो जाता है—अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

१—स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ॥ (उत्त० ३२।१०८)
(स वीतरागः कृतसर्वकृत्यः, क्षपयति ज्ञानावरणं क्षणेन।
तथैव यत् दर्शनमावृणोति, यदन्तरायं प्रकरोति कर्म ॥)

२—केवली णं भंते ! आयाणेहिं जाणइ पासइ।
गोयमा ! नो तिणट्ठे समट्ठे। (भग० ५।४।१८२)
(केवली भदन्त ! आदानैर्जानाति पश्यति ? गौतम ! नायमर्थः समर्थः।)

: ८ :

प्रतिक्रिया

क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होगी.
चाक के स्वतन्त्र घुमाव को मत देख.
यह अतीत पर वर्तमान की प्रतिक्रिया है.
तुम्बी को ऊपर लानेवाला कोई नहीं.
यह संग पर संग-मुक्ति की प्रतिक्रिया है.
एरण्ड का बीज कौन उछालने लगा ?
यह बन्धन पर बन्धन-मुक्ति की प्रतिक्रिया है.
दीप-शिखा को कौन ऊपर ले जाता है ?
यह गौरव पर गौरव मुक्ति की प्रतिक्रिया है.
बाण लक्ष्य की ओर क्यों दौड़ता है ?
यह अतीत पर वर्तमान की प्रतिक्रिया है.
'है' इसी को मत देख.
पहले को भी देख.
स्वभाव-मर्यादा सत्य है.
क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होगी.

: ८ :

आलोक

भगवान् मुक्त होकर लोक के ऊर्ध्ववर्ती अग्रभाग पर चले गए[1]।

पूर्व-आयोगजनित वेग के कारण चाक स्वयं घूमता है।

मिट्टी से लिपी हुई तुम्बी जल-तल में चली जाती है।

एरण्ड का बीज फली में बंधा रहता है किन्तु बन्ध टूटते ही वह ऊपर उछलता है। अग्नि की शिखा स्वभाव-सिद्ध-लाघव के कारण ऊपर को जाती है। इसी प्रकार अकर्म-जीव की इस क्षणिक गति के चार कारण हैं—(१) पूर्व-प्रयोग (२) असंगता (३) बन्ध-विच्छेद (४) तथाविध-स्वभाव[2]।

१—अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे च पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं तत्थ गंतूण सिज्झई। (उत्त० ३६।५६)
(अलोके प्रतिहताः सिद्धाः, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः।
इह शरीरं त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिध्यन्ति ॥)

२—निस्संगयाए, निरंगणाए, गतिपरिणामेणं बंधणछेयणाए, निरिंधणयाए, पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गती पन्नायति। (भग० ७।१।२६५)

: ९ :

उलाहना

ओ अचिन्तक ! तूने चिन्तन छोड़ा[1],
पर इस पथिक को क्यों छोड़ा[1] ?
ओ अभापक ! तूने बोलना छोड़ा,
पर इस पथिक को क्यों छोड़ा ?
ओ विदेह ! तूने देह छोड़ा, पर इस पथिक को क्यों छोड़ा ?
ओ समुच्छिन्न क्रिय ! तूने श्वासोछ्वास छोड़ा,
पर इस पथिक को क्यों छोड़ा ?
जो तेरे ही पथ का पथिक है.

१—उत्त० २९।७२

२—अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिंगते साइमणंतपत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥ (सूत्र० १।६।१७)
(अनुत्तराग्र्यां परमां महर्षि-रशेपकर्माणि विशोध्य ।
सिद्धिं गतः सादिमानन्तप्रज्ञो, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥)

: ९ :

आलोक

भगवान् के निर्वाण का समाचार सुन गौतम विह्वल बन गये। मोहने उन्हें आ घेरा। राग की जंजीर से जकड़े हुए गौतम भगवान् को उलाहना देने लगे।

गौतम ने कहा—भगवन्! मन, वाणी, शरीर और श्वासोच्छ्वास—ये विजातीय थे। इन्हें छोड़ा, वैसे मुझे भी छोड़ गये? मैं तेरा विजातीय नहीं था।

: १० :

आरोहण सोपान

ओ सूर्य !
तेरे लोक में मैंने देखा.
तिमिर और प्रकाश दो हैं.
ओ पदार्थ-वेत्ता !
तेरे पदार्थ-विज्ञान ने मुझे बताया—
मदिरा और सुधा दो हैं.
ओ मुक्तिदाता !
तेरे मुक्ति-गान में मैंने पढ़ा—
बन्दीगृह और प्रासाद दो हैं.
ओ सर्वदर्शिन् !
तेरे विश्व-दर्शन ने मुझसे कहा—
गढ़ा और पहाड़ दो हैं.
ओ दूर-गामी !
अब इस यात्री को और मत पने दे
वह पहाड़ की चोटीवाले प्रासाद में बैठ
सुधा की घूंट पीना चाहता है.
ओ प्रकाशात्मा ! प्रकाश दे।

: १० :

आलोक

मुक्ति-क्रम—

जीव-अजीव का ज्ञान।

पुनर्जन्म का ज्ञान।

पुनर्जन्म के आश्रय-स्थलों का ज्ञान।

पुनर्जन्म के हेतुभूत पुण्य-पाप का ज्ञान।

भोग-निर्वेद।

संयोग-त्याग।

भिक्षु-जीवन का स्वीकार।

कर्म-निरोध (संवर) का उत्कर्ष।

मूल (घात्य) कर्म-विलय।

कैवल्य-प्राप्ति।

लोक-अलोक दर्शन।

योग (प्रवृत्ति)-निरोध।

शैलेशी—सर्वथा अकम्प-दशा की प्राप्ति।

अग्र (भवोपग्राही) कर्म-विलय।

सिद्धि—सर्व-कर्म-मुक्ति।

लोकाग्र-गमन।

सिद्धिस्वरूप में शाश्वत अवस्थान।

यह मुक्ति का क्रम है[1]।

गौतम को भगवान् से जीव-अजीव का बोध मिला। भोग से खिन्न हो वे श्रमण बने। किन्तु भगवान् के जीवनकाल में उन्हें कैवल्य का प्रकाश नहीं मिला। भगवान् के निर्वाण के बाद कुछ समय के लिए वे खिन्न हुए। उलाहना भी दिया फिर सम्हले। भगवान् के वीतराग-स्वभाव के चिन्तन में लगे। शुक्ल-ध्यान की अतिशय-गरिमा में पहुंच गौतम स्वयं केवली बन गए।

१—जया जीवमजीवेय''''''सिद्धो हवइ सासओ।

(दश० ४।१४-२५)

: ११ :

चरम दर्शन

घोड़ा खड़ा रहा, आरोही उड़ चला.

नाव पड़ी रही, नाविक उस पार चला गया.

पिञ्जड़ा पड़ा रहा: पंछी उड़ चला.

फूल लगा रहा, सौरभ चल बसा.

बाती धरी रही, ज्योति-पुञ्ज ज्योति-पुञ्ज से जा मिला[1].

१—रागं दोसं च छिंदिया, सिद्धिगइं गए गोयमे। (उत्त० १०।३७)

(रागं द्वेषञ्च छित्त्वा, सिद्धिगतिं गतो गौतमः।)

: ११ :

आलोक

कैवल्य-प्राप्ति के बाद १२ वर्ष गौतम और जिये। उसके बाद भवोपग्राही कर्मों को खपा शरीर-स्थूल और सूक्ष्म को त्याग मुक्त हो गए। आराधक आराध्य के सम-तुल्य हो गए[1]। उनकी विजय-यात्रा सफल हुई।

१—नात्यद्भुतं भुवनभूषण! भूतनाथ!
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवंति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥ (भक्ता० १०)
लो कंचन करे पारस काचो
ते कहो कर कुण लेवै
पारस! तुं प्रभु साचो पारस,
आप समो कर देवै॥ (पार्श्व० २३।१)

: १२ :

विजय का गीत

ओ कान ! परदे को तोड़ फेंको.

सुनो ! यह पवन तुम्हारे लिए नया संदेश लिये आ रहा है.

ओ पैर ! उठो ! आगे बढ़ो ! प्रकाश तुम्हारे पीछे[1] नहीं है.

× × ×

जो देखनेवाला है

वह अपने घर में रमता है.

वह दूर होना चाहता है

इन विजातीय तत्त्वों से.

ऊपर उठ चुका है.

इन गन्दी बस्तियों से.

उसके लिए यहाँ सब सड़कें बन्द[2] हैं.

× × ×

ओ पुरुष ! जो सामने है उससे दूर हट.

अन्धानुसरण मत कर[3].

१—णहि णूण पुरा अणुस्सुतं, अदुवा तं तह णो समुट्ठियं।
मुणिणा सामाइ आहियं, नाएणं जगसव्वदंसिणा ॥ (सूत्र० १।२।२।३१)
(नहि नूनं पुराऽनुश्रुतमथवा तत्तथा नो समनुष्ठितम्।
मुनिना सामायिकाद्याख्यातं ज्ञातेन जगत्सर्वदर्शिना ॥)

२—समुप्पेहमाणस्स इक्कायवणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स।
(आचा० १।५।२।१४९)
(समुत्प्रेक्षमाणस्य एकायतनरतस्य इह विप्रमुक्तस्य नास्ति मार्गः विरतस्य।)

३—दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा, नो लोगस्सेसणं चरे। (आचा० १।४।१।१२८)
(दृष्टैर्निवेदं गच्छेत् नो लोकैषणां चरेत् ॥)

अन्धानुसरण से मुक्त है, वही पराजय से मुक्त[1] होगा.
जो सदा रूढ है, वह क्या पहनेगा विजय की वरमाला ?

× × ×

ओ वीर ! अपने घर में आ.
स्वतन्त्रता से खेल.
इस वन्दी-गृह को छोड़.
विजातीय तत्त्वों का पूर्ण वहिष्कार कर डाल.
रक्षा पंक्ति में चला आ.
फिर इधर क्यों आयेगा ?
जाने के वाद नहीं आनेवाले वीरों का माग वड़ा विकट होता है.
जो एक धक्के से वन्दीगृह को तोड़ डालता है,
वही नेतृत्व के योग्य है.
वही मुक्ति के योग्य है.
सुरक्षा उसके साथ[2] है.

× × ×

जो परम-दर्शी है, वही परम में रमता है.
जो परम में रमता है, वही परमदर्शी है.
परम-दर्शन ही पराजय का मुक्ति-पथ[3] है.

× × ×

१—जस्स नत्थि इमा जाई, अण्णा तस्स कओ सिया ? (आचा० १।४।१।१२९)
(यस्य नास्ति इयं जातिः, अन्या तस्य कुतः स्यात् ?)

२—आवीलए······सारए······दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगामीणं।
(आचा० १।४।४।१३८)
(आपीडयेत्······स्वारतः······दुरनुचरः मार्गः वीराणामनिवृत्तगामिनाम्।)

३—जे अणन्नदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणन्नदंसी।
(आचा० १।२।६।१२०)
(योऽनन्यदर्शी सोऽनन्यरामः, योऽनन्यरामः सोऽनन्यदर्शी।)

मेरा धर्म मेरी आज्ञा में है[1].

मेरी आज्ञा में नहीं, वह विजय-पथ का यात्री नहीं है.

मेरी आज्ञा में नहीं, वह मेरा पथ नहीं जानता.

जो पथ नहीं जानता, वह विजातीय तत्त्वोंसे पराभूत हो जाता है.

मेरी आज्ञा में चलनेवाला पराजय की बेड़ियों को तोड़ आगे बढ़ जाता[2] है.

उसे मेरा मार्ग नहीं मिलता[3],

जो अन्धकार से नहीं निकलना चाहता[4].

उसे मेरा मार्ग नहीं मिलता,

जो अविद्या से निकलना नहीं चाहता[5].

× × ×

जो बन्धन-मुक्तिका उपाय ढूंढ़ता है, वही विजय-पथ का यात्री है.

वह बन्दी भी नहीं है और मुक्त भी नहीं[6] है.

× × ×

१—आणाए मामगं धम्मं । (आचा० .१।६।२)

(आज्ञायां मामकः धर्मः ।)

२—अच्चेइ लोयसंजोगं, एस नाए पवुचइ । (आचा० १।२।६।१०१)

(अत्येति लोकसंयोगम्, एष न्यायः प्रोच्यते ।)

३—आवट्टमेव अणुपरियट्टंति । (आचा० १।५।२।१४६)

(आवर्त्तमेव अनुपरिवर्तन्ते ।)

४—तमंसि अवियाणओ आणाए लंभो नत्थि । (आचा० १।४।४।१३९)

(तमसि अविजानत आज्ञाया लाभो नास्ति ।)

५—अविज्जाए पलिमुक्खमाहु । (आचा० १।५।२।१४६)

(अविद्यया परिमोक्षमाहुः ।)

६—कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के । (आचा० १।२।६।१०३)

(कुशलः पुनर्न बद्धः न मुक्तः)

वह इन्द्र-धनुष ही पराजय है.
पराजय ही इन्द्र-धनुष है[1].
जो इन्द्र-धनुष को देखता है
वही सोया हुआ है.
जो सोया हुआ है,
वही बन्दी[2] है.
बन्दी ऊपर भी है.
नीचे भी है.
सामने भी है.
उनका मुक्तिदाता वही है, जो परिस्थिति को समझ मुक्ति के गीत गाता[3] है.

× × ×

जो विजेता करते हैं, वही करो.
जो विजेता नहीं करते, वह मत करो.
जो विजेता ने किया, वही करो.
जो विजेता ने नहीं किया, वह मत करो.
पराजय के कारणों से बचो.
सुख-सुविधा से बचो[4].

× × ×

१—जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे। (आचा० १।२।१।६३)
(यः गुणः स मूलस्थलम्, यत् मूलस्थानं तद् गुणः।)

२—से गुणट्ठी महया परियावेणं पुणो पुणो वसे पमत्ते। (आचा० १।२।१।६३)
(स गुणार्थी महता परितापेन पौनःपुन्येन वसेत् प्रमत्तः।)

३—एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे परिमोयए,
उड्ढं अहं तिरियं दिसासु।
(आचा० १।२।६।१०३)
(एष वीरः प्रशंसितः, यः बद्धः प्रतिमोचक ऊर्ध्वमधः तिर्यक्षु दिक्षु।)

४—से जं च आरभे जं च नारभे, अणारद्धं च न आरभे। (आचा० १।२।६।१०४)
(स यच्चारभते, यच्च नारभते, अनारब्धञ्च न आरभते।)

उनकी आँखों पर मोह का परदा लगा है.

जिनकी आँखों पर मोह का परदा लगा है वे दुर्बल हैं.

जिससे हो सकता है, उससे नहीं भी हो सकता[1] है.

मोह-मूढ इसे नहीं जानते[2].

ओ धीर यात्री !

आशा और उच्छृंखलता को छोड़[3].

यह घाव स्वयं तूने ही किया[4] है.

ये औषधियाँ घाव नहीं भर सकतीं[5].

इनसे दूर हट[6].

× × ×

जो काल को जानता है, वह वधक के जाल में नहीं फँसता.

जो क्षेत्र को जानता है, वह वधक के जाल में नहीं फँसता.

जो बल, मात्रा और अवसर को जानता है,

वह वधक के जाल में नहीं फँसता.

१—जेण सिया तेण नो सिया। (आचा० १।२।४।८५)
(येन स्यात् तेन नो स्यात्)

२—इणमेव नावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा। (आचा० १।२।४।८५)
(इदमेव न बुध्यन्ते ये जना मोहप्रावृताः)

३—आसं च छंदं च विगिंच धीरे। (आचा० १।२।४।८५)
(आशां छन्दश्च विविङ्क्ष्व धीर !)

४—तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु। (आचा० १।२।४।८५)
(त्वमेव तत् शल्यमाहृत्य)

५—णलं पास। (आचा० १।२।४।८५)
(नालं पश्य)

६—अलं ते एएहिं। (आचा० १।२।४।८५)
(अलं तव एभिः)

जो अपने और दूसरे के सिद्धान्त को जानता है, वह वधक के जाल में नहीं फँसता.

जो विनय और भावना को जानता है, वह वधक के जाल में नहीं फँसता[1].

× × ×

उनने देखा है.

उनकी दृष्टि से देख.

उनने त्यागा है.

उनकी मुक्ति को देख.

वे अनुगामी हैं.

उनके पद-चिह्नों को देख.

वे अनुभवी हैं.

उनकी अनुभूति को देख.

वे स्थिर हैं.

उनकी स्थिति को देख[2].

× × ×

मुक्ति के लिए प्रयाण नहीं करता, वह नींद में है.

प्रयाण करता है, किन्तु कष्टों से घबड़ा पीछे लौट आता है, वह कायर है.

प्रयाण करता है, पीछे नहीं सरकता,

१—से भिक्खु कालन्ने बालन्ने मायन्ने खेयन्ने खणयन्ने विणयन्ने ससमयपरसयन्ने भावन्ने। (आचा० १।२।५।८९)

(स भिक्षुः कालज्ञो बलज्ञो मात्रज्ञः खेदज्ञः क्षेत्रज्ञः क्षणज्ञः विनयज्ञः स्वसमयपरसमयज्ञः भावज्ञः)

२—तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सन्न तन्निसेवणे। (आचा० १।५।४।१५८)

(तद्-दृष्टिः तन्मुक्तिः तत्पुरस्कारः तत्संज्ञी तन्निवेशनः।)

वह वीर योद्धा[1] है.
आ वीर !
इन विजातीय तत्वों से लड़.
नकली लड़ाई से क्या होगा[2] ?
युद्ध की सामग्री जो मिली है, वह बार-बार कब मिलेगी[3] ?
ओ वीर सैनिको !
यह सर्वस्व युद्ध का मौका है
यह रहा सामने घर.
जो सर्वस्व-त्यागी हैं वे इसी घर में रहते हैं.
पूरा साम्य यहीं है.
मैंने इसी अट्टालिका के शिखर से
विजातीय तत्त्वों को उस पार फेंका.
दूसरा शिखर ऐसा नहीं है,
जहाँ से उन्हें उस पार फेंका जासके.

१—जे पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छानिवाई, जे नो पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई। (आचा० १।५।३।१५३)
(यः पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, यः पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती, यो नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती।)

२—इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ। (आचा० १।५।३।१५४)
(अनेनैव युध्यस्व, किं ते युद्धेन बाह्यतः।)

३—जुद्धारिहं खलु दुल्लहं। (आचा० १।५।३।१५५)
(युद्धार्हं खलु दुर्लभम्।)

थको मत.

थमो मत.

रुको मत.

झुको मत.

आगे बढ़ो.

दुगुनी शक्ति के साथ बढ़ो[1].

—:o:o:—

१—समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए, जहित्थ मए संधी झोसिए एवमन्नत्थ संधी दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहणिज्जं वीरियं। (आचा० १।५।३।१५२)
(समतायां धर्म आर्यैः प्रवेदितः, यथाऽत्र मया सन्धिः सेवितः, एवमन्यत्र सन्धिः दुर्झोष्यो भवति, तस्मात् ब्रवीमि नो निहन्यात् वीर्यम्।)

परिशिष्ट (ग्रन्थ-संकेत)

ग्रन्थ	संकेत
अध्यात्मोपनिषद्	अध्या०
अयोग-व्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका	अ० द्वा०
आचाराङ्ग सूत्र	आचा०
आवश्यक सूत्र	आव०
उत्तराध्यन सूत्र	उत्त०
औपपातिक सूत्र	औप०
ज्ञाता सूत्र	ज्ञाता०
तत्त्वार्थ सूत्र	तत्त्वा०
दशवैकालिक सूत्र	दश०
दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र	दशा०
नन्दी सूत्र	नन्दी०
पातञ्जल-योग-दर्शन	पा० यो०
पार्श्व-स्तुति	पार्श्व०
प्रज्ञापना सूत्र	प्रज्ञा०
प्रवचन-संग्रह	प्र० सं०
प्रश्नव्याकरण	प्रश्न०
भक्तामर-स्तोत्र	भक्ता०
भगवती सूत्र	भग०
राजप्रश्नीय सूत्र	राज०
वैराग्यमणिमाला	वैरा०
शान्तसुधारस	शान्त०
समवायाङ्ग सूत्र	सम०
समाधिशतक	समा०
सिद्धसेन-द्वात्रिंशिका	सि० द्वा०
सूत्रकृताङ्ग सूत्र	सूत्र०
स्थानाङ्ग सूत्र	स्था०